
श्राद्धविज्ञान

(खण्डचतुष्टयात्मक)

किमपि प्रास्ताविकम्

मोतीलालशर्म्मा
विज्ञान-मन्दिर
भूराटी.बा, जयपुर सीटी

* ॐतत्सद्ब्रह्मणे नमः *

श्राद्धविज्ञान

(आत्मविज्ञानोपनिषत्)

प्रथम खण्ड

किमपि प्रास्ताविकम्

मङ्गलपाठः—

१—नि षु सीद गणपते गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम् ।
न ऋते त्वत् क्रियते किञ्चनारे महामर्कं मघवञ्चित्रमर्च ॥

—ऋक्सं० १०।११२।९

२—वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः ।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ॥

—तै० ब्रा० २।८।८।४

१—हे गणपते ! आप गणों में (महद्गणों, तथा स्तोतृगणों में) विराजिए, क्योंकि (विद्वान्लोग) आप ही को कवियों में श्रेष्ठतम मेधावी समझते हैं। अपिच विना आपके (अनुग्रह के) लौकिक, अथवा वैदिक, कोई भी कर्म्म नहीं किया जा सकता (इसलिए प्रत्येक कार्य के आरम्भ में आपका प्रथमस्मरण नितान्त अपेक्षित है)। हे महनीय गणपते ! "त्रिवृत् (९), पञ्चदश (१५), सप्तदश (१७), एकविंश (२१), त्रिणव (२७), त्रयस्त्रिंश (३३)" इत्यादि विविध वाङ्मयस्तोमों से युक्त, अतएव विद्वानों की दृष्टि में आदरणीय जो हमारा यह वाङ्मयस्तोम (श्राद्धविज्ञान) है, उसे आप निर्विघ्न पूर्ण करने का अनुग्रह करें।

२—(१) "८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, २ अश्विनीकुमार" भेदभिन्न ३३ यज्ञिय आग्नेय देवदेवता, यच्चयावत् (२) सौम्यदेवता, (३) कर्म्मदेवता, (४) आत्मदेवता, (५) अभिमानी देवता, (६) पुरुषविध चेतन (मनुष्य) देवता, (७) मन्त्रदेवता, (८) चान्द्रदेवता, ये अष्टविध देवता एकमात्र वाक्तत्त्व को आधार बना कर

१

३—वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य वेदानां माताऽमृतस्य नाभिः ।
सा नो जुषाणोपयज्ञमागादवन्ती देवी सुहवा मेऽस्तु ॥

—तै० ब्रा० २।८।८।५

४—स इज्जनेन स विशा स जन्मना स पुत्रैर्वाजं धना नृभिः ।
देवानां यः पितरमाविवासति श्रद्धामना हविषा ब्रह्मणस्पतिम् ॥

—ऋक् सं० २।२६।३।

ही स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित हैं, अर्थात् 'देवपात्रं वा यदेष वषट्कारः' के अनुसार वाङ्मय वषट्कार ही इन की आधारभूमि है । २७ गन्धर्व, "पुरुष-अश्व-गौ-अवि-अज" भेदभिन्न ५ पशु, "अण्डज-पिण्डज-स्वेदज-उद्भिज्ज" भेदभिन्न चतुर्विध मनु, ये सब (भी) वाक्तत्त्व को प्रतिष्ठा बना कर ही जीवित हैं । 'रोदसी-क्रन्दसी-संयती' नामक त्रैलोक्यत्रिलोकीरूप, "भूः-भुवः-स्वः-महः-जनत्-तपः-सत्यम्" इन सात लोकों की समष्टिरूप सम्पूर्ण भुवन (लोक) वाक्-सूत्र में ही प्रोत हैं । इस प्रकार देवता, गन्धर्व, पशु, मनु, लोक, आदि रूप से जो वाक् 'अथो वागेवेदं सर्वम्' के अनुसार सर्वत्र व्याप्त हो रही है, 'इन्द्रपत्नी' नाम से प्रसिद्ध वह वाग्देवी (हमारे इस वाङ्मय पितृयज्ञलक्षण श्राद्धविज्ञान निर्म्माण में) हमारी प्रार्थना सुनें ।

३—"अक्षरमिति ((१) अ-(२) क्ष-(३) रम्-इति) त्र्यक्षरम्" (तां० म० ब्रा० १०।५।१०) "वागु-इत्येकाक्षरम्"—"एकाक्षरावै वाक्" इत्यादि श्रौत-सिद्धान्तों के अनुसार वाग्रूप एकाक्षर ब्रह्म, किंवा एकाक्षररूप वाग्ब्रह्म ऋततत्व (प्राणातत्त्व) से सर्वप्रथम उत्पन्न होने के कारण 'ऋतस्य प्रथमजा' नाम से प्रसिद्ध है । ऋत की प्रथमजा यह वाग्देवी अनन्त वेदों की जननी है, अमृत (सोम) की उद्भव-भूमि है । ऐसी यह वाग्देवी अमृत की वर्षा करती हुई (पितरप्राणतर्पक इस) वाग्यज्ञ में पधारे । अपिच हमारी (अपने अर्थविवर्त्त द्वारा) रक्षा करने वाली वाग्देवी हमारी यह वाङ्मयी प्रार्थना सुनने का अनुग्रह करे ।

४—(आपोमय-पारमेष्ठ्यमण्डल में प्रतिष्ठित 'पवित्र' नाम से प्रसिद्ध आङ्गिरस-आग्नेय-देवताओं का तृप्तिकारक ब्रह्मणस्पति-सोम आग्नेय-देवाहुति होने से देवमूर्ति है, एवं स्वस्वरूप से—सौम्यरूप से—पितरप्राणात्मक है) इस प्रकार आग्नेय देवताओं, तथा सौम्य पितरों के पालयिता (आवासभूमिलक्षण) इस परमेष्ठ्य ब्रह्मणस्पति का जो यजमान हविर्द्रव्य से यजन करता है, वह "सर्वमापोमयं जगत्-लोका ह्यप्सु प्रतिष्ठिताः" के अनुसार आपोमय सम्पूर्ण लोकों से (जनसे-'लोकस्तु भुवने जने'), सम्पूर्ण प्रजा से, अपने आप से, अपने पुत्रादिवंशजों

५—अन्वारभेथामनुसंरभेथामेतं लोकं श्रद्दधानाः सचन्ते ।
यद् वां पक्वं परिविष्टमग्नौ तस्य गुप्तये दम्पती सं श्रयेथाम् ॥
—अथर्व सं० ६।१२२।३।

६—एतद्वो ज्योतिः पितरस्तृतीयं पञ्चौदनं ब्रह्मणेजं ददाति ।
अजस्तमांस्यप हन्ति दूरमस्मिंल्लोके श्रद्दधानेन दत्तः ॥
—अथर्व सं० ९।५।११

से, तथा अपने सेवकवर्ग से अभीष्ट सम्पत्ति प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है। ब्रह्मणस्पति द्वारा पारमेष्ठ्य-अग्नेय-देवदेवता, तथा सौम्य-पितृदेवता, दोनों के यजन से यजनकर्त्ता सपूर्ण सम्पत्ति का अधिकारी बन जाता है, यही मन्त्रार्थ निष्कर्ष है।

५—हे दम्पती ! (यजमान, तथा यजमानपत्नी) आप दोनों परलोकहितसाधक कर्म्म को, तथा कर्म्म द्वारा प्राप्तव्य परलोक-फल को अपना लक्ष्य बना कर कर्म्म का आरम्भ कीजिए, आरब्ध कर्म्म में मनसा-वाचा-कर्म्मणा संयुक्त हो जाइए, क्योंकि देव-पितृयजनात्मक कर्म्म से प्राप्त होने वाले परलोक-फल को लक्ष्य बना कर ही, इस इन्द्रियातीत पर-लोकफल पर श्रद्धा करने वाले श्रद्धालुजन ही कर्म्म का अनुगमन करते हैं। इसलिए आप भी श्रद्धापूर्वक देवताओं, तथा पितरों का यजन कीजिए। आप दोनों के लिए स्थालीपाकादिलक्षण सुसंस्कृत, जो पक्व अन्न हविरूप से अग्नि में प्रक्षिप्त हुआ है, उसकी रक्षा के लिए आप प्रयत्नशील बनिए। अर्थात् अग्नि में प्रदत्त आहुतिद्रव्य द्वारा 'यावद्वित्तं तावदात्मा' के अनुसार आपके लिए परलोक-प्रतिष्ठात्मक जिस सुसंस्कृत दैवात्मा का स्वरूप सम्पन्न हुआ है, उसे अपने श्रद्धाकर्म्म से आप सुरक्षित रखिए।

६—जो यजमान अपने पिण्डपितृयज्ञ में अनन्य श्रद्धापूर्वक ब्रह्मौदनलक्षण 'पञ्चौदन' द्रव्य की आहुति देता है, उसकी इस प्रदत्त आहुति से इस भूलोक से अतिविदूर प्रतिष्ठित 'तृतीयद्युनाम' से प्रसिद्ध सौम्य-पितरप्राणमय पारमेष्ठ्यलोक से सम्बन्ध रखनेवाली पितृज्योति प्राप्त हो जाती है, जो कि पितृज्योति स्वगत २८ कल पितृसहोभाग द्वारा सप्तपुरुषपर्य्यन्त सन्तानभाव से वितत होती हुई (सन्तानभाव में परिणत होती हुई) लोकप्राप्तिबाधक तमःपुञ्जों का एकान्ततः विनाश कर देती है। पिण्डपितृयज्ञात्मक श्राद्धकर्म्म श्रद्धापूर्वक किये जाने से तृतीयद्युनिवासी पितरों का ज्योतिर्भाग सहोरूप से शुक्र में प्रतिष्ठित हो जाता है। एवं तद्द्वारा होनेवाली सन्तानपरम्परा से लोकप्रतिष्ठा सुरक्षित रहती है, यही तात्पर्य्य है।

७—श्रद्धयाऽग्निः समिद्धयते श्रद्धया हूयते हविः ।
श्रद्धां भगस्य मूर्द्धनि वचसा वेदयामसि ॥
—ऋक् सं० १०।१५१।१।

८—श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते ।
श्रद्धां हृदय्ययाकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु ॥
—ऋक् सं० १०।१५१।४।

९—श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि ।
श्रद्धां सूर्य्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः ॥
—ऋक् सं० १०।१५१।५।

७—ऋत्विक्लोग अपने देवयज्ञ-कर्म्म में श्रद्धा के द्वारा ही सौर-दिव्याग्नि का आकर्षण कर इसके समावेश से इद्ध आहवनीयाग्नि का समिन्धन किया करते हैं, श्रद्धा से इस अग्नि में द्युलोकस्थ प्राणदेवताओं के लिए आहुति दी जाती है, ऐसी श्रद्धा का, जो कि ऐश्वर्य्य के शिरोभाग में (ऐश्वर्य्यात्मिक श्रीभाव की प्रतिष्ठारूप सूर्य्य के ऊर्ध्वभाग में सौम्य परमेष्ठी में) प्रतिष्ठित है, मैं अपनी इस वाणी द्वारा (इस श्रद्धामय-श्राद्धविज्ञानात्मक निबन्ध-रचनाकर्म्म में) विस्तार कर रहा हूं ।

८—यज्ञकर्त्ता यजमान (मनुष्य), तथा पार्थिव प्रवर्ग्यभाग से यजन करनेवाले दिव्यप्राणात्मक देवता वायु से (वायुद्वारा प्रदत्त आहुतिद्रव्य से) सुरक्षित रहते हुए (अपनी इस रक्षा के लिए प्राणवाय्वात्मिका) इस श्रद्धा की ही उपासना किया करते हैं। सम्पूर्ण प्राणी हृदयावच्छिन्न मन के संकल्प से (संकल्पसिद्धि के लिए) इसी श्रद्धा की उपासना किया करते हैं। क्योंकि श्रद्धा से ही अभीष्ट-फलसिद्धि होती है, (अतएव सब इसी श्रद्धा का अनुगमन करते हैं)।

९—त्रिषवणात्मक अपने कर्म्मस्वरूप सम्पादनानुगत अहःकाल में (प्रातः से सायं पर्य्यन्त) हम प्रातःसवनात्मक प्रातःकाल में भी इसी श्रद्धा की आराधना करते हैं, माध्यन्दिनसवनात्मक मध्याह्न में भी इसी श्रद्धा का अनुगमन करते हैं, एवं सायंसवनात्मक सूर्य्यास्तकाल में भी इसी का अनुगमन करते हैं। हे श्रद्धे ! आप तत्तत् कर्म्मानुष्ठों के प्रति हमें श्रद्धावान् बनाइए, (यही उस श्रद्धा से हमारी विनम्र प्रार्थना है)।

१०—प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः ।
प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं म उदितं कृधि ॥

—ऋक् सं० १०।१५१।२।

११—श्रद्धा देवानधिवस्ते "श्रद्धाविश्वमिदं जगत्" ।
श्रद्धां कामस्य मातरं हविषा वर्द्धयामसि ॥

—तै० ब्रा० २।८।८।९।

१२–पितरो मा विश्वमिदं च भूतं पृश्निमातरो मरुतः स्वर्काः ।
ये अग्निजिह्वा उत वा यजत्रास्ते नो देवाः सुहवाः शर्म्म यच्छत ॥

—ऐ० आ० ५।१।१।

१०—हे श्रद्धे ! दान देनेवालों के लिए, तथा दान देने की इच्छा रखने वालों के लिए, दोनों के लिए आप अभीष्टफल प्रदान करें । हे श्रद्धे ! आप मेरा, मत्सम्बन्धी भोगार्थी बन्धुओं का, यज्ञकर्त्ता यजमानों का, सबका कल्याण करें (आपसे यही हमारी विनम्र प्रार्थना है) ।

११—उक्त लक्षण वह सौम्य श्रद्धातत्त्व अपने सोमात्मक आहुतिभाव से सदा आग्नेय प्राणात्मक यज्ञिय देवदेवताओं का अनुगामी बना रहता है (श्रद्धाद्वारा ही देवप्राण की अध्यात्म में प्रतिष्ठा होती है) । अपने आपोमय पारमेष्ठ्य 'श्रत्' लक्षण सत्यरूप से लोकसृष्टि की प्रवर्त्तिका भी यही श्रद्धा है, एवं पञ्चाहुति-क्रम से लोकप्रतिष्ठ प्रजासृष्टि की मूलप्रभवा भी यही श्रद्धा है । अतएव यह सम्पूर्ण विश्व (स्थावर सृष्टि) भी श्रद्धामय है, एवं सम्पूर्ण जगत् (जङ्गमलक्षणा प्राणिसृष्टि) भी श्रद्धात्मक ही है । हृदयस्थ सौम्य मन में चान्द्रनाड़ी द्वारा प्रतिष्ठित होती हुई यही श्रद्धा मानस कामनाओं की जननी है । ऐसी सर्वरूपा इस श्रद्धा को वाङ्मय इस (श्राद्धविज्ञानरूप) हविःप्रदान द्वारा मैं समृद्ध कर रहा हूं ।

१२—अग्निष्वात्ता-सोमसत्-बर्हिषत्-नामक **अन्नपितर**, आज्यपा-सोमपा-हविर्भुक्-नामक **अन्नादपितर**, तथा 'सुकाली' नाम के **अनुभयपितर** मेरी, तथा सम्पूर्ण विश्व की रक्षा करें । सूर्य्यरश्मिगत पृश्नितत्त्व से उत्पन्न पितरप्राण-सहयोगी मरुद्देवता भलीभांति पूजनीय हैं, (क्योंकि इन्हीं के द्वारा पितृकर्म्म सम्पन्न होता है) । साथ ही अग्निद्वारा आहुतिग्रहण करने वाले **'हुताद'** देवता, तथा यजत्र **'अहुताद'** देवता, दोनों स्वसहयोगी मरुद्गणों के साथ, एवं मरुद्गणावच्छिन्न सर्वविध पितरों के साथ प्रार्थना पूर्वक इस वाग्यज्ञ में बुलाए जाते हुए हमारे लिए लोकसम्पत्-अत्राप्तिलक्षण सुख प्रदान करें ।

१३—ओष्ठापिधाना न कुली दन्तैः परिवृता पविः ।
सर्वस्यै वाच ईशाना चारु मामिह वादयेत् ॥

—ऐ० आ० ३।२।५।

जिस १'श्रद्धा' तत्त्व की आहुति से २'सोम' ३'वृष्टि' ४'अन्न' ५'रेतः' क्रम से पाचवीं आहुति में पुरुषसृष्टि का विकास हुआ है *, जो 'श्रद्धा' तत्त्व अपने आपोमय रूप से सम्पूर्ण विश्व-तथा विश्वप्रजा का उपादान कारण है, जो 'श्रद्धा' तत्त्व त्रयीलक्षण सत्यमूर्त्ति प्रतिष्ठाब्रह्म के साथ युक्त हो कर सम्पूर्ण विश्व की प्रतिष्ठा बना हुआ है, जिस 'श्रद्धा' तत्त्व की आहुति से दिव्यलोकस्थ प्राणदेवता अपने सम्वत्सराग्नि को समिद्ध रखने में समर्थ हो रहे हैं, द्युलोकस्थ सूर्य्य-केन्द्र से भू-केन्द्र पर्य्यन्त वितत जिस 'श्रद्धा' सूत्र के द्वारा द्युलोकस्थ प्राणदेवता, तथा द्युलोकस्थ ('प्रद्यौ' नामक द्युलोक में प्रतिष्ठित) पितर भूलोकस्थ यजमानों से प्रदत्त स्व-स्व आहुतिद्रव्य प्राप्त करने में समर्थ बन रहे हैं, जिस 'श्रद्धा' तत्त्व के आधार पर अग्नीषोमात्मक पाञ्चमहाभौतिक विश्व का स्वरूपसम्पादक आधिदैविक (प्राकृतिक) अग्नीषोमीय अग्निहोत्र प्रतिष्ठित है, जिस 'श्रद्धा' तत्त्व की अपनी स्वरूपरक्षाके लिए वायु से सुरक्षित (वायुमय-प्राणमय) देवता निरन्तर उपासना किया करते हैं, जो 'श्रद्धा' हृदयस्थ मन में प्रतिष्ठित होती हुई सर्वविध कामनाओं की जननी बन रही है—जो'श्रद्धा' अपने 'श्रत्' लक्षण सत्यधर्म्म से सत्यभाव की मूलप्रतिष्ठा बन रही है, जो 'श्रद्धा' सूत्र अवरपुरुषों के शुक्र में प्रतिष्ठित महानात्मा के द्वारा चन्द्रोर्ध्वभाग में प्रतिष्ठित प्रेत-परपुरुषों के महानात्माओं को तृप्त कर पिण्डदान द्वारा 'श्राद्धकर्म्म' की मूलप्रतिष्ठा बन रहा है, जिस 'श्रद्धा' तत्त्व के-संस्काराभाव-अशिक्षा-कुशिक्षा-परशिक्षा-निषिद्धकर्म्मानु-

श्रद्धा-संस्मरण—

१३—कृमि-कीट-पक्षी-पशु-मनुष्य-यक्ष-राक्षस-गन्धर्व-पिशाच-इन्द्र-पितर-ब्रह्मा-प्रजापति, आदि यथयावत् (चतुर्दशविध) भूतसर्गों के वाङ्मय प्रपञ्च की अधिष्ठात्री ('पितरो वाक्यमिच्छन्ति' के अनुसार पितृप्राणाकर्षिणी), वस्त्राच्छादन की भांति ओष्ठद्वय से सुरक्षित, छिद्ररहित-अतएव वज्रसदृश दृढ दन्तपङ्क्ति से घिरी हुई यह वाग्देवी इस वाग्यज्ञ (श्राद्धविज्ञान-निबन्ध) में मुख से प्रिय-हित-मित-सत्य-वाणी का प्रयोग करावे ।

*—"इति तु पञ्चाम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति" —छां० उप० ५।९।१।

गमन-इत्यादि कारणों से-अभिभूत हो जाने के कारण मानववर्ग सत्यधर्म्म से विमुख से हो जाता है,—

वैदिक विज्ञान के अस्तप्राय हो जाने से, कुछ एक शताब्दियों से पुष्पित-पल्लवित होने वाले वर्णाश्रमधर्म्मविरोधी 'सन्तमत' के आक्रमण से, आर्षधर्म्मविलुप्ति से, व्याजधर्म्मानुगामी अर्वाचीन वेदभक्तों की काल्पनिक वेदव्याख्याओं से, परराजतन्त्रानुगता आर्षसंस्कृतिविरोधिनी परशिक्षा के प्रबल आक्रमण से, सर्वोपरि अचिन्त्याप्रमेय कालपुरुष की महिमा के अनुग्रह से श्रद्धानुगत श्राद्धतत्त्व से सर्वथा अनभिज्ञ, 'श्राद्धेतिकर्त्तव्यता' से एकान्ततः पराङ्मुख, भ्रान्त भारतीयों के मानसक्षेत्र में श्राद्धसूत्र प्रतिष्ठित करने के लिए 'श्राद्धविज्ञान निबन्ध' के आरम्भ में उसी विश्वरूपा **'श्रद्धादेवी'** का संस्मरण करते हुए 'श्राद्धविज्ञान' आरम्भ किया जाता है।

ब्राह्म-अहोरात्र की एकोत्तरसप्तति (७१) चतुर्युगी में से प्रक्रान्त अष्टाविंशतितमा (२८ वीं) चतुर्युगी के सत्ययुग आरम्भ काल से कलियुग के आज के भोग्यकाल से लगभग ६०–७० वर्ष पहले तक भारतीय आस्तिक आर्षप्रजा का 'श्राद्धकर्म्म' के सम्बन्ध में जो श्रद्धा-विश्वास था, दुर्भाग्य से इन अतीत ६०–७० वर्षों से किसी एक आकस्मिक कलिवात्याहित झञ्झावात से वह शिथिल हो गया। फलतः

आर्षप्रजाभिमत श्राद्धकर्म्म–

'देवकार्य्याद् द्विजातीनां पितृकार्य्यं विशिष्यते' के अनुसार अग्निहोत्र-दर्शपूर्णमासादि लक्षण देवकार्य्य से भी कहीं विशेष महत्त्व रखनेवाला पिण्डपितृयज्ञात्मक पितृकार्य्य परप्रत्ययनेय कतिपय महाशयों की दृष्टि में अश्रद्धेय बन गया, जिसका दुष्परिणाम सङ्ग-दोष से आस्तिक-श्रद्धालु प्रजावर्ग को भी भोगना पड़ रहा है। आर्षप्रजा का श्राद्धकर्म्म की इतिकर्त्तव्यता के सम्बन्ध में शास्त्राभिमत जो चिरन्तन श्रद्धा-विश्वास है, उसका निम्न लिखित शब्दों में अभिनय किया जा सकता है—

"स्थूलशरीर परित्यागानन्तर आतिवाहिक-अङ्गुष्ठमात्र-सूक्ष्मशरीर धारण कर—**'ये वै केचास्माल्लोकात्प्रयन्ति, चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति'** (कौषीतकि० उप० १।२।२) इत्यादि कौषीतकि-सिद्धान्तानुसार प्रेत संज्ञक **'प्रत्यगात्मा'** (भोक्तात्मा) कर्म्मफल भोगने से पहले एक बार चान्द्रसम्वत्सरानुगत १३ महीनों में चन्द्रलोक में पहुंचता है। इसके साथ साथ ही आकृति-प्रकृति-अहंकृतिभाव-त्रयी का अधिष्ठाता, सत्त्व-रज-स्तमोगुणक, चतुरशीति (८४) कल ऋण-धनात्मक पित्र्य-सहःपिण्डों से नित्ययुक्त, शुक्रप्रतिष्ठ, 'पितर' संज्ञक **'महानात्मा'** भी स्वप्रभव चन्द्रलोक के उर्ध्व भाग में उसी एक चान्द्रसम्वत्सर में प्रतिष्ठित हो जाता है।

उत्तरायणानुगता स्वर्गलोकगति, तथा दक्षिणायनानुगता नरकलोकगति, दोनों आत्मगतियों के विभाजक, अतएव 'एतद्वै लोकस्य द्वारं, यच्चन्द्रमाः' (कौ० उप० १।२।३) इस श्रुति के अनुसार 'द्वार' (उभयलोकद्वार) नाम से प्रसिद्ध चन्द्रमा में जब प्रत्यगात्मा, तथा महानात्मा, दोनों प्रेतात्मा पहुंच जाते हैं, तो अनन्तर महानात्मा तो स्वप्रतिष्ठालक्षण विधूर्ध्व भाग में हीं प्रतिष्ठित रह जाता है, एवं कर्म्मभोक्ता प्रत्यगात्मा शुभाशुभ-कर्म्मफल भोगार्थ शुभाशुभ उत्तर-दक्षिण-मार्गों में से किसी एक मार्ग को स्वगति का निमित्त बनाता हुआ 'देही कर्म्मगतिं गतः' के अनुसार लोकान्तरानुगामी बन जाता है।

परलोकात्मक चन्द्रलोक में प्रतिष्ठित पिता-पितामह-प्रपितामहादि के महानात्मा ही 'प्रेत-पितर' कहलाए हैं। इन्हें हीं 'मृतपितर' कहा गया है। इन मृतपितरों के लिये, दूसरे शब्दों में परलोकगत प्रेतसंज्ञक स्ववंशजों के लिये श्रद्धापूर्वक पिण्डदान करना ही श्राद्धकर्म्म है। इस सम्बन्ध में आर्षप्रजा का यह दृढ़ विश्वास है कि, शास्त्रोक्त पद्धति से पुत्र-पौत्रादि वंशजों के द्वारा प्रदत्त पिण्ड-रस इन्द्रियातीत श्रद्धा-सूत्र द्वारा परलोकस्थ पितृ-पितामह-प्रपितामहादि की तृप्ति का कारण बनता है। प्रदत्त पिण्डरस (प्राणात्मकरस) से सबल बनता हुआ प्रेतात्मा पार्थिवाकर्षणजनित दुःख से युक्त अपनी 'अश्रुमुखा'वस्था को छोड़ता हुआ सुखपूर्वक चन्द्रलोक में पहुँच कर सापिण्ड्यभाव को प्राप्त हो जाता है। 'गजच्छाया' से सम्बन्ध रखनेवाले कन्यागत-महालय-श्राद्धपक्ष में तत्तत् प्रेतपितरों की तत्तन्निधन-तिथियों में पुत्रादि द्वारा सम्पादित पिण्डदानादिलक्षण श्राद्धकर्म्म से तत्तत प्रेतपितर प्रतिवर्ष तृप्त हुआ करते हैं। श्राद्धान्न से तृप्त पितर श्रद्धासूत्र द्वारा भूपिण्डस्थ स्व-पुत्रादि के शुक्रस्थ पित्र्यसहः-पिण्डात्मक महानात्मा में जीवनीय-सन्ततिवितानात्मक-पित्र्यरस का आधान करते रहते हैं। इस आहित रस से प्रजातन्तुवितान अक्षुण्ण बना रहता है, फलतः वंशोच्छेद का अवसर नहीं आने पाता। जो अभिनिविष्ट परलोक जाते हुए, तथा परलोक में पहुँचे हुए प्रेतपितरों के निमित्त पिण्डदानादि-लक्षण श्राद्धकर्म्म नहीं करते, उनके प्रेतपितरों के पित्र्यसहः-पिण्ड क्षीण हो जाते हैं। उनके क्षीण हो जाने से तदभिन्न तत्पुत्रादि के शुक्र में प्रतिष्ठित महानात्मा के पित्र्यसहः-पिण्ड क्षीण हो जाते हैं, शुक्र निर्बल हो जाता है। यही पिण्डक्षय इनके वंशोच्छेद का एक अन्यतम कारण बनता है। इस वंशोच्छित्ति के साथ साथ बुभुक्षित पितरों के अभिशाप से ये लोक-समृद्धि से भी वञ्चित रहते हैं। अतएव आवश्यक है कि, प्रजातन्तुवितान के लिये, तथा प्रेतात्मा को तृप्त कर उस तृप्ति के द्वारा उभयविध सौख्य प्राप्ति के लिये प्रत्येक श्रद्धालु श्रद्धा-नुसार परिग्रहों का संग्रह कर यथाविधि पिण्डदानादि लक्षण श्राद्धकर्म्म का अनुगमन करता

रहे। पिण्डदानादि लक्षण श्राद्धकर्म्म के इन्हीं अतिशयों का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य ने कहा है—

१—स्वर्गं-ह्यपत्य-मोजश्च-शौर्य्यं-क्षेत्रं-बलं तथा।
पुत्रं-श्रैष्ठ्यं च-सौभाग्यं-समृद्धिं-मुख्यतां शुभाम्॥
२—प्रवृत्तचक्रतां चैव वाणिज्यप्रभृतीनपि।
अरोगित्वं यशो वीतशोकतां परमां गतिम्॥
३—धनं वेदान् भिषक्‌सिद्धिं कुप्यं गा अप्यजाविकम्।
अश्वानायुश्च विधिवद्यः श्राद्धं सम्प्रयच्छति॥
४—कृत्तिकादि-भरण्यन्तं स कामानाप्नुयादिमान्।
आस्तिकः श्रद्धानश्च व्यपेतमदमत्सरः॥
५—वसुरुद्रादितिसुताः पितरः श्राद्धदेवताः।
प्रीणयन्ति मनुष्याणां पितृन् श्राद्धेन तर्पिताः॥
६—आयुः, प्रजां, धनं, विद्यां, स्वर्गं, मोक्षं, सुखानि च।
प्रयच्छन्ति तथा राज्यं प्रीता नृणां पितामहाः॥'

—याज्ञवल्क्यस्मृतिः आ० श्रा० १०।

"गतानुगतिको लोको न लोकः पारमार्थिकः" इस लोकसूक्ति से सम्बन्ध रखने वाली प्रचलित परिपाटी के अनुसार ग्रन्थारम्भ करने से पहिले उसकी आवश्यकता के सम्बन्ध में भी कुछ निवेदन कर देना आवश्यक हो जाता है। इसी आवश्यकता का अनुभव करते हुए हमें इस सम्बन्ध में नाप्राप्त अप्रिय सत्य को लक्ष्य बनाते हुए निबन्ध रचना-कारणत्रयी का स्पष्टीकरण करना पड़ रहा है। उन तीनों कारणों में से प्रथम कारण की ओर ही विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

निबन्ध की आवश्यकता, तथा तत्सम्बन्ध में प्रथम कारण निदर्शन—

श्राद्धकर्म्म के आर्षप्रजाभिमत स्वरूप के सम्बन्ध में पूर्व में जो कुछ कहा गया है, धार्म्मिक जगत सदा से उसी वक्तव्य का अनुगमन करता आ रहा है। पिण्डदानादि-लक्षण श्राद्धकर्म्म की वैदिकता में उसे कभी सन्देह नहीं हुआ। परन्तु विगत अर्द्धशताब्दी से इस आवश्यकतम वैदिक कर्म्म के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के ऊहापोह होने लगे हैं। यों तो ऐसे ऐसे परोक्ष

विषयों के सम्बन्ध में साधारण-अज्ञजनों को सदा से ही व्यामोह होता चला आ रहा है, फलस्वरूप भारतीय आर्षधर्म्मानुगता (सनातनधर्म्मानुगता) आर्षप्रजा को सदा से ही सामयिक धर्म्मविप्लवों का सामना करना पड़ता आ रहा है। तथापि वर्त्तमान शताब्दी का धर्म्मविप्लव अपना एक विशेष महत्त्व रखता है। साथ ही विगत शताब्दियों में परमतवादियों के धर्म्म पर जितनें भी आक्रमण हुए हैं, उन सब की अपेक्षा आज का आक्रमण अपेक्षाकृत कहीं अधिक भयावह बन रहा है। कारण यही है कि, आज तक इस मानवधर्म्म पर केवल बाह्य आक्रमण हुआ था, दूसरे शब्दों में अब तक सनातनधर्म्म को विधर्म्मियों का ही सामना करना पड़ा था, परन्तु दुर्भाग्य से आज उसे स्वधर्म्मानुयायियों के ही आक्रमण का लक्ष्य बनना पड़ रहा है, एवं इसी दृष्टि से यह आक्रमण अतीत आक्रमणों की तुलना में कहीं ज्येष्ठ बन रहा है। इस धार्म्मिक विप्लव के जहां अन्यान्य कई एक सामान्य कारण हैं, वहां यदि हम भूल नहीं कर रहे, तो सर्वश्री **स्वामी दयानन्दजी** ही एक मुख्य कारण मानें जा सकते हैं। **'अनृतसंहिता वै मनुष्याः'** (शत० १।१।१।१) इस श्रौत-सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य जन्मतः अनृतसंहित होते हैं, स्वप्रभव ऋत के अनुग्रह से भ्रान्ति हो जाना मनुष्य का स्वाभाविक धर्म्म है। अतीतानागतज्ञ, विदितवेदितव्य, साक्षात्कृतधर्म्मा महर्षियों की दिव्य दृष्टि जहां सर्वथा निर्भ्रान्त होती है, वहां केवल बाह्यदृष्टि के अनुगामी सामान्य मनुष्य इन्द्रियातीत विषयों के सम्बन्ध में केवल अपनी बाह्यदृष्टि के आधार पर 'इदमित्थमेव' निर्णय करने में सर्वथा असमर्थ हैं। यदि वे स्वकल्पना के आधार पर इन परोक्ष विषयों के सम्बन्ध में हठात् कुछ निर्णय करने की अनधिकार चेष्टा करने लगते हैं, तो उन की यह चेष्टा आर्षप्रजा की दृष्टि में सर्वथा भ्रान्त, अतएव अप्रामाणिक ही उद्घोषित होती है। तत्त्वतः स्वामीजी मनुष्य थे, उनके पास ऋषिदृष्टि का आत्यन्तिक अभाव था। अतएव अपनी विशुद्ध बाह्यदृष्टि के आधार पर उन्होंने बाह्यजगत् से सम्बन्ध रखने वाली सामजिक त्रुटियों के प्रति जहां हिन्दू-जाति का उपकाराभास किया, वहां अपने मानव सुलभ अनार्ष अनृतभाव के कारण वेदशास्त्रसिद्ध धार्म्मिक-इतिकर्त्तव्यताओं के (वेदसिद्ध प्रतिमापूजन, अवतारवाद, श्राद्ध, षोडशसंस्कार, आदि के) सम्बन्ध में स्वयं वेदशास्त्र को ही आधार बना कर अपनी विशुद्ध-अनार्ष-अनृतभावापन्ना-कल्पना के आधार पर कुछ एक ऐसी भयङ्कर भूलें कर डाली हैं, जिनके प्रभाव से क्रियात्मक सनातनधर्म्म का एक प्रकार से गला घुट गया है। यह कौन जानता था कि, प्राच्य आर्षधर्म्म, आर्षसंस्कृति, आर्षसभ्यता, आदि प्राच्यविभूतियों के अन्तःप्रकाश को अपने चाकचिक्य युक्त बाह्यप्रकाश से अभिभूत करने वाले पाश्चात्यशिक्षात्मक सौभाग्यसूर्य्य को पूर्णरूपेण विकसित होने के लिए एक भारतीय वेदभक्त

ब्राह्मण के ही द्वारा इस प्रकार का सुपरिष्कृत धरातल उपलब्ध हो जायगा। आत्मपरमात्मसत्ता-ज्ञान से वञ्चित, प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानने वाले वेदविरोधी चार्वाक लोग अज्ञानतावश—

"मृतानामिह जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्तिकारणम्।
गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्थं पाथेयकल्पना॥"[1]

इत्यादि जिन कुतर्कमूलक कारणाभासों को सामने रखते हुए 'पिण्डदानादिलक्षण' श्राद्धकर्म्म का उपहास किया करते हैं, स्वामीजी ने उसी चार्वाकमूलक नास्तिकवाद जैसे जघन्यवाद का पोषण करते हुए मृतपितृनिमित्तक पिण्डदानादिलक्षण श्राद्धकर्म्म का खण्डन करने का दुस्साहस किया है। चार्वाकमत की समालोचना करते हुए, उक्त श्लोक को चार्वाक मत में उद्धृत करते हुए, चार्वाक के इस कथन की पुष्टि करते हुए उत्तरपक्ष में आगे जाकर स्वामीजी कहते हैं—**'ब्राह्मणों ने प्रेतकर्म्म अपनी जीविकार्थ बना लिया है, परन्तु वेदोक्त न होने से खण्डनीय है'** (देखिये—सत्यार्थप्रकाश, १२ स०। चा० मतमींमासा, २१ वां संस्करण, २६४ पृ०, ८ वीं पंक्ति)।

इसी प्रकार आर्षसभ्यता के अनन्य पक्षपाती, अनुद्वेगकरी ऋषिभाषा के अपने आप को पृष्ठपोषक मानने वाले, किन्तु उसी चार्वाकमतमीमांसा में सुप्रसिद्ध वेदव्याख्याता श्रद्धेय महीधरादि वेदभाष्यकारों के प्रति—**'हां भांड धूर्त्त निशाचरवत् महीधरादि टीकाकार हुए हैं, उनकी धूर्त्तता है, वेदों की नहीं'** (सत्या० २६४ पृ०।१०, ११ पंक्तियां) इस प्रकार की अशिष्ट-असभ्य-भाषा का प्रयोग करते हुए शिष्टतम उन्हीं स्वामीजी ने अपने विश्वविख्यात **'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका'** नामक ग्रन्थराज में पञ्चमहायज्ञान्तर्गत पितृयज्ञ का निरूपण करते हुए अपने निम्न लिखित वेदशास्त्रसम्मत, —हां विशुद्ध वेदशास्त्रसम्मत ?—उद्गार प्रकट किए हैं—

"तस्य (पितृयज्ञस्य) द्वौ भेदौस्तः-एकस्तर्पणाख्यो, द्वितीयो श्राद्धाख्यश्च। तत्र येन कर्म्मणा विदुषो देवान् पितृंश्च तर्पयन्ति, सुखयन्ति, तत्तर्पणम्। तथा यत्तेषां श्रद्धया सेवनं क्रियते, तच्छ्राद्धं वेदितव्यम्। तत्र विद्वत्सु

---

[1]—मरे हुए प्राणियों की तृप्ति का साधन यदि श्राद्ध (श्राद्धकर्म्म में मृतपितरों के लिए प्रदत्त पिण्डादिरूप श्राद्धान्न) है, तो विदेशयात्रा करने वाले जीवित प्राणियों के लिए पाथेय (मार्ग के भोजन) की कल्पना व्यर्थ है। फिर तो जिस द्वार से परलोकगत मृतप्राणियों को भोजन पहुंचा दिया जाता है, उसी द्वार से विदेशस्थ प्राणियों को भी तृप्त किया जा सकता है।

विद्यमानेष्वेतत् कर्म्म संघट्यते, नैव मृतकेषु। कुतः। तेषां प्राप्त्यभावेन सेवनाशक्यत्वात्। तदर्थंकृतकर्म्मणः प्राप्त्यभाव इति व्यर्थापत्तेश्च। तस्माद्विद्यमानाभिप्रायेणैतत् कर्म्मोपदिश्यते। सेव्यसेवकसंनिकर्षात् सर्वमेतत् कर्त्तुं शक्यते"[1] (ऋ० भा० भू० पितृयज्ञविषय)।

उक्त निदर्शन से प्रकृत में वतलाना यही है कि, जन्मानुगता जाति के अनुग्राहक परम्पराप्राप्त शुभसंस्कारों की कृपा से 'श्राद्ध' शब्द से तो स्वामीजी को प्रेम अवश्य है। परन्तु वेद-तत्त्वानभिज्ञतानुगत स्वाभाविक अनृतसंस्कार के अनुग्रह से श्रुति-स्मृतिशास्त्रसम्मता पिण्डदानादि-लक्षण मृत-प्रेतात्मानुगता चिरकाल से चली आने वाली श्राद्धेतिकर्त्तव्यता से आप सहमत नहीं हैं। एवं इस अपनी अमान्यता की मान्यता के सम्वन्ध में मुख्य कारण आप यह वतला रहे हैं कि "वेदशास्त्र में श्राद्ध का विधान नहीं है"। शास्त्राभिमत तर्क (सु) से सम्वन्ध रखने वाले वाद का अनुगमन **'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः'** के अनुसार जहां तत्त्व-निर्णायक माना गया है, वहां शास्त्रविरुद्ध तर्क (कु) से सम्वन्ध रखने वाला वाद दूर से ही प्रणम्य है। अतएव ऐसे खण्डन-मण्डनात्मक वाद से हमारे अन्तर्जगत् का कोई सम्वन्ध नहीं है। प्रतिपाद्य-विषय का युक्ति, तर्क, विज्ञान, सर्वोपरि आप्तप्रमाण के आधार पर प्रतिपादन कर देना ही हमारे कर्त्तव्य की कृतकृत्यता है। ऐसी दशा में स्वामीजी के श्राद्धकर्म्म-विषयक अशास्त्रीय कल्पित सिद्धान्ताभास का इस विज्ञानप्रधान-शास्त्रीय निबन्ध में उल्लेख करना यद्यपि सर्वथा असामयिक, साथ ही कुछ एक अभिनिविष्ट सन्मित्रों के लिए उद्वेगकर था, तथापि किसी कारण-विशेष से ही हमें इस निबन्ध-रचना-कारण-निदर्शन में ऐसे अप्रिय

१—"इस पितृयज्ञ के तर्पण, और श्राद्ध, नामक दो भेद हैं। जिस कर्म्म से (मनुष्य) विद्वानों, देवताओं, ऋषियों, तथा पितरों को तृप्त करते हैं, उन्हें सुख पहुंचाते हैं, वह सुख कर्म्म तर्पण है। एवं जिस कर्म्म से श्रद्धापूर्वक इनकी सेवा की जाती है, उसे श्राद्धकर्म्म समझना चाहिए। यह कर्म्म जीवित पितर आदि के सम्बन्ध में ही उपपन्न है, मरे हुओं के लिए नहीं। कारण। मृत पितर जब हैं ही नहीं, तो उनकी सेवा करना उनके लिए किए गए कर्म्म की उनके न रहने से व्यर्थता भी है। इसलिए श्राद्ध, तर्पण का उपदेश विद्यमान (जीवित) पितरों के लिए ही हुआ है। इस स्थिति में सेवक, और सेव्य (स्वामी) के सामने रहने से (विद्यमान रहने से) सेवादि सब काम चरितार्थ हो जाते हैं।"

सत्य का आश्रय लेना पड़ा है। वेदशास्त्रसम्मत आर्षधर्म्म से विरोध रखने वाले चार्वाकादि नास्तिक ही यदि पिण्डदानादिलक्षण श्राद्धकर्म्म के विरोधी होते, तो कोई हानि न थी। क्योंकि उन की सहजसिद्धा आसुरी बुद्धि सदा से ही शाश्वत देवासुरसंग्राम की भांति दिव्य कर्म्मों के साथ प्रतिद्वन्द्विता करती आई है। हानि की क्या कथा, उस परिस्थिति में तो 'श्राद्धविज्ञान' का रचनाप्रयास भी अनावश्यक था। परन्तु जब हम अपने ही समाज में, अपनी ही जाति में श्राद्धकर्म्म के सम्बन्ध में विरोध पाते हैं, दूसरे शब्दों में एक ही वेदशास्त्र को प्रमाणाधार मानने वाला धार्मिक जगत् ही जब श्राद्धकर्म्म के सम्बन्ध में अपना विभिन्न दृष्टिकोण रखता है, तो उस परिस्थिति में–'एकस्मिन् धर्म्मिणि विरुद्धनानाकोट्यवगाहि ज्ञानं संशयः'[1] इस लौकिक न्याय के अनुसार साधारण तटस्थ जिज्ञासू मनुष्य सन्देह में पड़ जाते हैं।

अपने आपको 'सनातनधर्म्मावलम्बी' कहने वाले आर्ष-महानुभाव भी श्राद्धकर्म्म को वैदिक कर्म्म मान रहे है, एवं तदनुसार अनुगमन कर रहे हैं। उधर अपने आप को 'आर्यसमाजी' उद्घोपित करने वाले महाशय-गण भी श्राद्ध की वैदिकता में यथाकथञ्चित् निष्ठा रख रहे हैं। मानते दोनों हैं, परन्तु इस मान्यता के प्रवृत्तिनिमित्त भिन्न भिन्न हैं। एक (स०) कहते हैं—'मृतपितरों के लिए पुत्रादि का श्राद्धसूत्र द्वारा पिण्डप्रदान करना श्राद्ध है'। दूसरे (आ०) कह रहे हैं—'जीवित पितरों को अन्न-वस्त्रादि से श्रद्धापूर्वक तृप्त करना ही श्राद्ध है'। निर्विवाद है कि, इस मतविरोध ने, किंवा धर्म्म (सनातनधर्म्म), तथा मत (आर्यमत) की प्रतिस्पर्द्धा ने आज जनसाधारण को संशयास्पद बना रक्खा है। इस 'गृहकलह,' किंवा दो ग्रहों के पारस्परिक 'ग्रहकलह' को शान्त करने के लिए ही इस निबन्ध की आवश्यकता समझी गई है।

हमारा यह विश्वास ही नहीं, अपितु दृढ़ निश्चय है कि, यदि पाठकों ने दोपदृष्टि से भी एकबार 'श्राद्धविज्ञान-निबन्ध' को आद्योपान्त देखने का कष्ट उठाया, तो उनके श्राद्ध-कर्म्म सम्बन्धी सम्पूर्ण सन्देह दूर हो जायँगे। अज्ञानता ही मतभेद की जननी है, मतभेद ही सामाजिक संघठन का विच्छेदक है, समाजविच्छेद ही राष्ट्रीय निर्बलता का प्रवर्त्तक है, एवं निर्बल राष्ट्र ही सर्वस्वविघातिका परतन्त्रता के पाश में बद्ध होता है, जिस का प्रत्यक्ष निदर्शन

---

१ "एक ही धर्म्म, किंवा धर्म्मों में स्थाणु, तथा पुरुषलक्षण अनेक विरुद्ध ज्ञानों का जब उदय हो जाता है, तो ऐसी दशा में–'स्थाणुर्वा, पुरुषो वा' इत्याकारक सन्देह उत्पन्न हो जाता है"।

आज का परतन्त्र भारतवर्ष है। 'हम ज्ञानबल के अनुग्रह से निष्पक्षपात बनते हुए यथार्थस्थिति पर पहुंच कर परस्पर का विरोध छोड़ दें, विरोध-परिहार द्वारा अपने असंघठित समाज को सुसंघठित बनाते हुए स्वतन्त्रताह्वान करने के अधिकारी बनें' श्राद्धविज्ञान-रचना की कारणत्रयी में यही प्रथम कारण-निदर्शन है।

पाञ्चभौतिक विश्व में जितने भी जङ्गम प्राणी हैं, उन सब में 'मनुष्य' प्राणी का स्थान सर्वोच्च माना गया है। इस सर्वोच्चता का एकमात्र कारण यही है कि, अन्य जङ्गम-प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य में ज्ञानशक्ति विशेष मात्रा से विकसित रहती है। इसी ज्ञानशक्ति के प्रभाव से अपने से कहीं अधिक बल-वीर्य्य-शाली सिंहादि हिंस्रक प्राणियों पर भी यह अपने ज्ञानानुगत पराक्रम से अपना प्रभुत्त्व जमा लेता है। किंबहुना, स्वज्ञानबल से ही इसने विश्व की समस्त चर-अचर विभूति को अपना भोग्य बना रक्खा है। ज्ञानशक्ति ही पुरुष का पुरुषत्त्व है, ज्ञानविहीन पुरुष पुच्छविषाणहीन पशु है। जिस प्रकार सप्तवितस्ति-कायात्मक, वैश्वानर-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञमूर्त्ति ईशप्रजापति अपने ज्ञानबल से सम्पूर्ण विश्व का भोक्ता बन रहा है, एवमेव ईश्वरसंस्था में भुक्त यच्चयावत ईश्वरांशों का प्रवर्ग्यरूप से अपनी अध्यात्मसंस्था में संग्रह करता हुआ—'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्' (शत० १ कां०।५ अ०।१ कं०।) इत्यादि ब्राह्मणश्रुति के अनुसार प्रजापति के समकक्ष बन कर यह पुरुष सर्वत्र स्वसत्ता को व्याप्त किए हुए है।

द्वितीय कारण निदर्शन—

यद्यपि सृष्टि-विज्ञानानुसार पुरुष में जन्म से ही इतर प्राणियों की अपेक्षा ज्ञानशक्ति का आधिक्य रहता है, तथापि इसके पूर्ण विकास के लिए शिक्षाशास्त्र का आश्रय ग्रहण करना आवश्यक हो जाता है। ऊर्ध्व-प्ररोहित होने की जन्मतः शक्ति रखते हुए भी वृक्षादि जैसे जलसिञ्चन के बिना विकसित नहीं हो सकते, एवमेव बिना बाह्यशिक्षा के जन्मतः प्रतिष्ठित भी ज्ञानशक्ति का विकास असम्भव है। अशिक्षित मनुष्य की ज्ञानशक्ति मुकुलित रहती है, मेघाच्छन्न सूर्य्यवत उसकी स्वज्ञानरश्मियों का प्रसार अवरुद्ध रहता है। जो दशा एक पशु की है, वही दशा एक यथाजात अशिक्षित मनुष्य की है। कर्त्तव्यविवेकशून्य ऐसे मनुष्य की दृष्टि किसी पूर्ण (वास्तविक) तत्त्व की ओर न जा कर शून्य (निरर्थक) भावों की ओर ही मुहुर्मुहुः आकर्षित होती रहती है, अतएव (मुहुर्मुहुरनुगता शून्यसमतुलिता 'ख' दृष्टि से) ऐसा अशिक्षित यथाजात 'मूर्ख' कहलाया है।

इस सम्बन्ध में यह भी स्मरण रखना आवश्यक होगा कि, मनुष्य जैसी शिक्षा का आश्रय लेता है, उसका हृदयावच्छिन्न मन, एवं तत्प्रतिष्ठिता बुद्धि, दोनों का विकास तदनुरूप ही होता है।

शिक्षा मनुष्य के हृद्य जगत् का निर्म्माण करनेवाला एक अव्यर्थ-यन्त्र है। भारतवर्ष ने अपनी आर्षसभ्यता-संस्कृति-साहित्य-के विकासकाल से आरम्भ कर अद्यावधि अनेक आक्रमणों का सामना किया। उदाहरण के लिये वेदविरोधी-बौद्धमत को ही लीजिये। शताब्दियों तक बौद्धसंस्कृति की छत्रच्छाया में रहता हुआ भी भारतवर्ष अपनी वैदिक-संस्कृति से पराङ्मुख न हुआ। इसका एकमात्र कारण था 'शिक्षायन्त्र पर उसका अपना आधिपत्य'। यही कारण था कि, बौद्धमत में दीक्षित 'देवानांप्रिय' प्रियदर्शी सम्राट् अशोक की राजसभा में जो सम्मान बौद्धभिक्षुओं को प्राप्त था, वही सम्मान आर्षधर्म्मानुयायी ब्राह्मणों को प्राप्त हुआ। अपने प्रबल तर्कवाद से नास्तिकों के युक्तिवाद का समूल विनाश कर विलुप्तप्राय आर्षधर्म्म को पुनः स्थापित करनेवाले भगवान् **शङ्कराचार्य**, प्रातःस्मरणीय **कुमारिलभट्ट**, श्रद्धेय **मण्डनमिश्र**, जगदीश्वर के प्रति—

'ऐश्वर्य्यमदमत्तो हि मामज्ञाय वर्त्तसे।[१]
उपस्थितेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थितिः॥'

इस प्रकार की गर्वोक्ति का प्रयोग करनेवाले, अपने सुप्रसिद्ध **'कुसुमाञ्जलि'** ग्रन्थ द्वारा ईश्वर-सत्ता के संस्थापक, तर्कशास्त्रपारङ्गत सर्वश्री**उदयनाचार्य**, आदि कई एक महापुरुषों को उसी परम्परासिद्ध-स्वशिक्षा-सन्तान के बल पर तत्कालीन भारतवर्ष ने जन्म दिया। आगे जाकर दुर्भाग्य से इस आर्षसंस्कृति को यवनमत का सामना करना पड़ा। यह आक्रमण बौद्ध आक्रमण से कहीं भयङ्कर सिद्ध हुआ। कला के अन्यतम शत्रु नरराक्षसों ने कला को विध्वस्त किया, देवप्रतिमाएं तोड़ीं गईं, देश का मौलिक साहित्य अग्निज्वाला को समृद्ध करने में

---

१ ऐसी किंवदन्ती है कि, एक बार उदयनाचार्य श्रीजगदीश के दर्शनार्थ पधारे। उनकी यह प्रबल इच्छा थी कि, जगदीशविग्रह (मूर्त्ति) उन्हें साक्षात्‌रूप से दर्शनों का सौभाग्य प्रदान करें। अनेक बार मानसिक प्रार्थना करने पर भी जब उन्हें साक्षात् दर्शन न हुए, तो अन्त में आवेश के कारण उनके मुख से निकल पड़ा कि—"हे जगीश! आज तू अपने ऐश्वर्य के मद में पड़ कर मेरा तिरस्कार (उपेक्षा) कर रहा है। परन्तु तुझे यह नहीं भुला देना चाहिए कि, जब बौद्धलोग तेरी सत्ता (ईश्वर सत्ता) उखाड़ने के लिए सामने आते हैं, तो उस समय तेरी सत्ता मेरे अधीन रहती है"। अर्थात् मैं न रहूं, तो संसार तुझे मानना छोड़ दे। सुनते हैं-भक्त की इस शुद्धहृदय से निकलने वाली भक्तिपूर्ण अन्तर्वेदना के बल से भगवत्प्रतिमा ने साक्षात्‌रूप से उदयनाचार्य को दर्शन दिए।

सहायक बनाया गया, आर्य्यललनाओं का सतीत्त्व छीना गया, अबोध बच्चे जीवितदशा में हीं दीवारों में चुना दिए गए। यह सभी कुछ अकाण्ड ताण्डव हुआ, परन्तु सौभाग्य से इस युग में भी आततायियों की दृष्टि से हमारा शिक्षायन्त्र यथाकथञ्चित् बचा रह गया। फलतः इस युग में भी हमारी मौलिक सभ्यता इस आक्रमण को सहने में सर्वात्मना समर्थ हो गई। प्रतिभासम्पन्न कवियों के अतिरिक्त वर्णाश्रमधर्म्मात्मक आर्षधर्म्म के अनन्य समर्थक महात्मा **तुलसीदास**, भक्तप्रवर **सूरदास**, सर्वश्री सन्त **तुकाराम**, समर्थ **रामदासस्वामी**, **श्रीज्ञानेश्वर महाराज**, सूक्तिवर **कबीर**, आदि महापुरुषों ने उसी भयावह युग में उसी शिक्षा-नुग्रह से इस देश को अलंकृत किया। स्वनामधन्य **हम्मीर, प्रताप, छत्रसाल, शिवाजी, गुरुगोविन्दसिंह**, आदि क्षत्रियवीरों ने अपनी इसी आर्षशिक्षा के बल से यवनों की प्रबल-शक्ति को छिन्न भिन्न किया, और इस प्रकार **'स्वधर्म्मे निधनं श्रेयः परधर्म्मो भयावहः'** आदर्श की अंनुगामिनी आर्षप्रजा ने इस भवबन्धन से पुनः मुक्तिलाभ प्राप्त कर लिया। परन्तु............।

इस 'परन्तु' का अतीत इतिहास सभी इतिहासों की सीमा का अतिक्रमण करने वाला सिद्ध हुआ। कहने के लिए यवनाक्रमणजनित भय से हमारा त्राण करने वाले, अतएव हमारे परम हितैषी पाश्चात्य महानुभावों की किसी शुभ मुहूर्त्त में भारतवसुन्धरा के वक्षस्थल पर पादप्रतिष्ठा हुई। जिस प्रकार सप्तगोलकयोग से, किंवा ऐन्द्रविद्युत् के आघात से समस्त भूपिण्ड कम्पित हो जाता है, उसी प्रकार इन परमहितैषियों के आकस्मिक पदाघात से भारतवसुन्धरा कम्पित हो उठी। कहना नहीं होगा कि, यह आक्रमण पूर्व के दोनों आक्रमणों से कहीं भयङ्कर था। परम राजनीतिज्ञ लार्ड मेकॉले महोदय ने भारतवर्ष की पावनभूमि पर पाश्चात्य शिक्षा-प्रसार के साधनभूत भवननिर्म्माण की मूलभित्ति (नींव) रखने के अनन्तर स्वदेश (इंग्लैन्ड) वासी अपने किसी बन्धु को निम्नलिखित आशय का एक पत्र प्रेषित किया था—

> 'मित्र ! आज मैंने भारतवर्ष में ऐसा शिक्षालय स्थापित कर दिया है, जिस में शिक्षा ग्रहण करने वाले भारतीय आचार, व्यवहार, सभ्यता, आदि में सर्वात्मना यूरोपियन बन जायँगे। रह जायँगे केवल नाममात्र के लिए भारतीय'

सचमुच उस दूरदर्शी राजनीतिज्ञ की उक्त भविष्यवाणी आगे जाकर सर्वथा चरितार्थ हुई। पाश्चात्यशिक्षा ने भारतीय नवयुवकों का हृदय ओर का ओर ही बना दिया, जोकि हृदयस्थान

सभ्यता, संस्कृति, जातीयता, आदि स्व-भावों की मूलप्रतिष्ठा माना गया है। इन शिक्षालयों में अपनी आयु के सारभाग की आहुति देने वाले, अपने जन्मदाता-अभिभावकों की सञ्चित सम्पत्ति का सदुपयोग (?) करने वाले हमारे इन नवयुवकों ने प्रतिफल में प्राप्त क्या किया ? श्रूयताम् !

'तुह्मारे पूर्वज निरे जङ्गली थे, विज्ञानशून्य थे, असभ्य थे, अग्नि-वायु-वृष्टि- आदि जड़ पदार्थों के पूजक थे। जो कुछ भी उन्नति हुई है, इसी युग में, एकमात्र हमारे अनुग्रह से ही हुई है। खाना, पीना, सोना, उठना, चलना, फिरना, वेशभूषा धारण करना, सभ्य-समाज में बैठ कर सभ्यता का वर्त्ताव करना, आदि सम्पूर्ण मानवधर्म्मों (सभ्यताओं) के प्रथम प्रवर्त्तक एकमात्र हम हीं हैं। हमने तुम्हें पशु से मनुष्य बनाया है, हमने तुम्हारे देश की अराजकता दूर की है, जो अराजकता तुम्हारे यहां आने से आज तक दूर न हुई थी। हां, स्मरण रखना, भारतवर्ष तुम्हारी प्रातिस्विक सम्पत्ति नहीं है। तुम लोगों ने बाहिर (पामीर) से आकर इस देश पर अपना अधिकार जमा लिया है (इसलिए आज हम भी अपने अपूर्व गुण-बल से इस पर अपना अधिकार प्रतिष्ठित करने में कोई आपत्ति नहीं समझते ! ! !)। तुम्हारा धर्म्म ब्राह्मणों की स्वार्थलीलामात्र है। इसी अवैज्ञानिक कल्पित धर्म्म के अनुगमन से आज तक तुम उन्नति से वञ्चित रहे। अब इस हमारे शिक्षा-साम्राज्य के आश्रय से तुम्हें जीवन की सफलता का अनुभव होगा'।

आचार-व्यवहार में परतन्त्रता का आदेश देने वाली, किन्तु विचारस्वातन्त्र्यप्रदान करने वाली, अतएव मानवीयमन के विकास की अनन्य साधनभूता भारतीय आर्षशिक्षा की प्रतिद्वन्द्विता में राजनीति का बाना पहिन कर उपस्थित होने वाली पाश्चात्यशिक्षा ने आर्षशिक्षा से ठीक विपरीत अपना दृष्टिकोण बनाया। इस ने आचार-व्यवहार में पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान की, तथा विचारों में पूर्णरूप से परतन्त्र बना डाला। आचार-व्यवहार की स्वतन्त्रता से एक ओर जहां हमने भारतीय आचार-व्यवहारों का एकान्ततः परित्याग कर प्रतीच्यदेशाभिमत आचार-व्यवहारों का अनुगमन करते हुए व्यक्तिगतरूप से अपने आपको परतन्त्र बना डाला, वहाँ दूसरी ओर स्वविचारपारतन्त्र्य से उन्हीं के विचारों का अनुगमन करते हुए हमने अपने आध्यात्मिक जगत् को भी परतन्त्रता के निविड़पाश में बद्ध कर डाला। इस प्रकार बाह्य, तथा अन्तः, उभयथा हम परतन्त्र बन गए। आज न हमारे पास अपने आचार-व्यवहार हैं, न अपने विचार। उभयविध दासता से आज हमें अपनी अतीत स्मृतियां भी मिथ्या प्रतीत होने लगी हैं। इस प्रकार वर्त्तमान शिक्षायन्त्र के अनुग्रह से आज हम स्व-भाव से एकान्ततः विदूर पहुंच चुके हैं, एवं यही वर्त्तमानशिक्षा की सब से बड़ी देन है।

आचार-व्यवहारपारतन्त्र्यगर्भिता विचारस्वतन्त्रतात्मिका स्वतन्त्रता मानवीय मन का जन्म सिद्ध अधिकार है। संसार की कोई भी आसुरीशक्ति (भौतिकबल) अधिक समय तक इस पर अपना अधिकार नहीं रख सकती। फलतः चरमसीमा पर पहुँच कर भारतीयक्षेत्र ने भी करवट बदली, और देश ने एक स्वर से सस्यश्यामला मातृभूमि का यशोगान आरम्भ किया। परन्तु एक सब से बड़ी भूल, हां सब से बड़ी भूल उन गायकों ने कर डाली, अथवा तो चिरकाल से विकृत संस्कारों के अनुग्रह से स्वतःएव वह भूल हो पड़ी। जिनकी हृत्तन्त्री से स्वतन्त्रता का झाङ्कार विनिर्गत हुआ, उनकी हृत्तन्त्री पूर्वकथनानुसार शिक्षादोष से आक्रान्त थी। मलिन दर्पण से विनिर्गत रश्मियां जिस प्रकार स्वस्वरूप से स्वच्छ-शुक्ल रहतीं हुई भी संसर्गदोष से मलिन रहतीं हैं, एवमेव परशिक्षाक्रान्ता हृत्तन्त्री से विनिर्गत स्वतन्त्रता का निनाद भी कालान्तर में परतन्त्रता का ही साधक सिद्ध हुआ। इस परतन्त्रतात्मिका स्वतन्त्रता का पहिला मुष्टिप्रहार उस आर्षसभ्यता पर ही हुआ, जिस की रक्षा ही एतद्देशीय स्वातन्त्र्य का बीजमन्त्र है।

आज भारतवर्ष में स्वतन्त्रता की लहर 'बीचितरङ्ग' न्याय से इतस्ततः प्रवाहित है। आबाल-वृद्ध-वनिता, सभी स्वतन्त्रता प्राप्त करना चाहते हैं। इस प्रकार देश आज स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए व्यग्र हो रहा है। परिणामस्वरूप वर्त्तमान राज्यसत्ता के साथ असहयोग किया जा रहा है, तत्प्रदर्शनार्थ विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार हो रहा है। 'सुस्वागतम्' !!!। परन्तु साथ साथ स्वतन्त्रता के अनन्यपोषक आर्षधर्म्म का, तदनुगामिनी आर्षशिक्षा का उपहास करना भी परमपुरुषार्थ माना जा रहा है। 'महद्दुःखास्पदम्' !!!। सर्वत्र एक स्वर से यही सुनाई पड़ रहा है कि,—'हमारे पतन का, हमारी परतन्त्रता का एकमात्र कारण हमारा धर्म्म (सनातनधर्म्म), तथा तत्प्रवर्त्तक-पोषक-समर्थक ब्राह्मण ही हैं। स्पृश्यास्पृश्य, सहशिक्षा, विधवा परिणय, आदि को धर्म्मविरुद्ध उद्घोषित करने वाले स्वार्थमूलक इसी सनातनधर्म्म ने, एवं तत्पृष्ठपोषक स्वार्थी पण्डितों ने हीं समाजस्वरूप का मूलोच्छेद करते हुए राष्ट्र-पारतन्त्र्य का बीज वपन किया है'। कलकत्ता में होने वाली कांग्रेस में देश के एक प्रमुख व्यक्ति ने तो यहां तक आगे बढ़ने का दुस्साहस कर डाला था कि,—'जब तक इन शास्त्रों को अग्नि में नहीं जला दिया जायगा, तब तक देश कभी स्वतन्त्र न हो सकेगा'।

भगवान् चतुर्म्मुख ब्रह्मा ने लोक, प्रजासृष्टि-निर्म्माण के लिए सर्वप्रथम वेदशास्त्र का आविर्भाव किया। सहसा वेदशास्त्र को छीन कर असुर पाताल में जा छुपे। वेदशास्त्र के बिना सृष्टिक्रम अवरुद्ध हो गया। अन्ततोगत्वा भगवान् विष्णु को मत्स्यावतार धारण कर वेदशास्त्र का उद्धार करना पड़ा। एवं तब कहीं ब्रह्मा विश्वनिर्म्माण कर्म्म में समर्थ हो सके। इस प्रकार

आर्षदृष्टिकोण से जो आर्षशास्त्र (वेदशास्त्र) न केवल भारतवर्ष का ही, अपितु सम्पूर्ण त्रैलोक्य का स्वरूपरक्षक बन रहा है, उसे अग्निसात् करके स्वतन्त्रता का आह्वान करने वाले ये स्वतन्त्रतावादी क्या प्रलयकाल को निमन्त्रण नहीं दे रहे ? जिस आर्षशास्त्रसिद्ध यज्ञकर्म्म के बल से देवताओं ने असुरों को परास्त कर अपनी विलुप्त स्वतन्त्रता पुनः प्राप्त की, वही आपशास्त्र आज इन स्वतन्त्रताप्रेमियों की दृष्टि में अनन्य बाधक प्रतीत होता हुआ क्या 'विनाशकाले विपरीतबुद्धिः' को चरितार्थ नहीं बना रहा ?

स्वतन्त्रता-प्रेमियों की वह कौन सी सभा न होगी, जहां आर्षशास्त्र, तत्प्रवर्त्तक ऋषिगण, तन्मूलक सनातनधर्म्म, तत्पोषक पण्डितवर्ग, तदनुगामिनी आर्षप्रजा का अवाच्यवादों से सत्कार (?) न किया जाता हो ? साथ ही आर्षधर्म्मपोषक विद्वानों को-'पुराणपन्थी'-'रूढ़ियों के गुलाम'-स्वतन्त्रता के शत्रु' आदि सदुपाधियों से विभूषित न किया जाता हो ? आज तो यह धर्म्मविरोध यहां तक बढ़ गया है कि, जिन देश के सर्वमान्य नेताओं का अपना प्रधान लक्ष्य एकमात्र असहयोगानुगमन था, वे भी इसी ओर सर्वतोभावेन झुक रहे हैं। पवित्र देवमन्दिरों में अवरवर्णों का बलात्कार से प्रवेश कराने में, उनके हित-व्याज से धारासभाओं (Legislative Assembly) में राजनियम (Law) बनवाने में ही आज हमारे इन देशनेताओं की सम्पूर्ण शक्ति का अपव्यय, किंवा निरर्थक क्षय हो रहा है। यह सब अकाण्डताण्डव क्यों हो रहा है ? उत्तर एकमात्र वही शिक्षायन्त्र। वर्त्तमान शिक्षा ने आर्षप्रजा के दिव्यसंस्कारपुञ्ज को आवृत कर लिया है। आज हमारे उक्थ (बिम्ब) का स्वरूप दूषित हो गया है। दूषित उक्थ से दूषित अर्क (मनोभावनाएं) निकल रहे हैं।[1] स्वसंस्कृतिरक्षक आर्षशास्त्र (वेदशास्त्र) ज्ञान से एकान्ततः शून्य, शास्त्रसिद्ध-मनःसंस्थास्वरूपनिर्म्मापक आहार-विहारादिलक्षण आचार पारतन्त्र्य का सर्वथा तिरस्कार करने वाले, अन्नदोष को गुणपक्ष में स्थापित करनेवाले, सर्वोपरि यावज्जीवन परशिक्षास्रोत में प्रवाहित रहने वाले महानुभावों के उक्थ से यदि उक्त प्रकार के धर्म्म-विरोधी अर्क निकलें, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। वर्चस्व-तेजोयुक्त ज्ञानबल ही हमारे अन्तर्जगत का 'स्व' भाग है, एवं 'स्व तन्त्र' से सम्बन्ध रखने वाली आचार-व्यवहार-पारतन्त्र्यगर्भिता विचारस्वातन्त्र्यमूला स्वतन्त्रता ही 'स्व-तन्त्र' (आत्मतन्त्र) को सुरक्षित रखने वाली वास्तविक स्वतन्त्रता है, जिस की मूलप्रतिष्ठा एकमात्र

---

१ अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥ (मनुः ५।४)

आर्षशास्त्र, तथा तदनुगामिनी आर्षशिक्षा ही मानी गई है। आर्षशिक्षानुगत ज्ञानबल ही ब्रह्मबल है, (ज्ञानगुप्ति से) ओजपूर्ण बना हुआ कर्म्मबल ही क्षत्रबल है, ब्रह्म-क्षत्र (ज्ञान-कर्म्म) से सुगुप्त अर्थबल ही विड्बल है। जहां वर्त्तमान शिक्षा विशुद्ध अर्थतन्त्र को अपना प्रधान लक्ष्य बनाती हुई जड़तामूलिका साम्राज्य-लिप्सा का समर्थन कर रही है, वहां आर्षशिक्षा ब्रह्म के (ज्ञान के) आधार पर क्षत्र (कर्म्म) द्वारा विड् (अर्थ) का नियन्त्रण करती हुई धर्म्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इन चारों पुरुषार्थों का समर्थन कर रही है, एवं यही भारतीय आर्षशिक्षा की संक्षिप्त रूपरेखा है, जिसका अन्य निबन्धों में विस्तार से प्रतिपादन हुआ है। हमारा यह केवल विश्वास ही नहीं, अपितु दृढ़ निश्चय है कि, जब तक मानसिक दासता से देश उन्मुक्त नहीं हो जाता, तब तक अन्य प्रयत्न सहस्रों से भी वास्तविक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो सकती। भारतीय दृष्टिकोण से मानसिक-दासता से त्राण पाने का एकमात्र उपाय है—अध्यात्ममूलिका सहजज्ञानशक्ति का विकास। ज्ञानशक्तिविकास का एकमात्र उपाय है—अध्यात्ममूला आर्षशिक्षा का अनुगमन, जो आर्षशिक्षा एकमात्र आर्षशास्त्र (वेदशास्त्र) में, एवं तन्मूलक स्मृति, पुराणादि इतर शास्त्रों में उपबृंहित हुई है। जब तक उक्तलक्षण आर्षशिक्षा का अनुगमन न किया जायगा, तब तक स्वयं जगदीश्वर भी हमें स्वतन्त्र न बना सकेंगे। देश का सौभाग्य है कि, देशनेता भी वर्त्तमान शिक्षा से आज संत्रस्त दिखाई देने लगे हैं। जैसा कि उक्थार्कस्वरूप द्वारा पूर्व में कहा गया है, नेताओं का ध्यान अभी केवलशिक्षा-प्रणाली की ओर ही आकर्षित हुआ है। परन्तु वह प्रणाली कैसी हो? तथा शिक्षा कौन सी हो? इत्यादि प्रश्न अभी उनके लिए असमाधेया प्रश्नावली ही बन रही है।[1]

व्यक्तितन्त्ररक्षक स्वानुगत आचार, व्यवहार, सभ्यता, संस्कृति, शिक्षा, साहित्य, आदि को जलाञ्जलि समर्पित करते हुए अपनी मौलिक जातीयता को स्मृतिगर्भ में विलीन कर हमें

---

१ प्रस्तुत श्राद्धविज्ञान निबन्ध आज से ५-६ वर्ष पहिले सम्पन्न हो गया था। उस समय शिक्षा-प्रणाली के सम्बन्ध में आन्दोलन का जन्म ही हुआ था। अब इस सम्बन्ध में जो इतिवृत्त विदित हुआ है, वह तो आर्षसंस्कृति के लिए एक महा आपत्ति का कारण प्रतीत हो रहा है। जिस हिन्दी-तथा हिन्दुस्तानी को ले कर साहित्यिक क्षेत्र में आज एक महासंघर्ष उपस्थित हो रहा है, उस अप्रिय संघर्ष की जन्मदात्री 'वर्धा' क्षेत्र से विनिःसृत वह शिक्षा-प्रणाली, तथा भारतीय संस्कृति को सातवें पाताल से भी किसी गहरे पाताल की ओर ले जाने वाले मेधावी लेखकों की वज्र लेखिनी से लिखे हुए हिन्दुस्तानीभाषामय शिक्षाग्रन्थ किस आर्षसंस्कृतिप्रेमी को क्षुब्ध नहीं कर रहे।

जो 'स्वतन्त्रता' प्राप्त होगी, उससे हमारा स्व-तन्त्र सुरक्षित रहेगा ? अथवा विनष्ट हो जायगा ? इन प्रश्नों की मीमांसा मुकुलितनयन बन कर उन स्वतन्त्रता प्रेमियों को ही करना चाहिए। 'हम हम बने रहें, और फिर स्वतन्त्रता प्राप्त करें' यही वास्तविक स्वतन्त्रता कहलाएगी। हमारी सामान्य दृष्टि में—'एक परतन्त्र अश्व का गर्धभ बनकर स्वतन्त्रता प्राप्त करने की अपेक्षा उसका अपने अश्वरूप से स्वतंत्रता के लिये प्रयास करना कहीं अधिक श्रेयःपन्था है'। अस्तु. इस पराधिकार चर्चा करने का न तो हमें अधिकार ही है, न योग्यता ही है। प्रस्तुत वक्तव्य से निवेदन केवल यही करना है कि, जिस क्षण से हमारा शिक्षायन्त्र परायत्त बना है, उसी क्षण से हमारी परतन्त्रता का श्रीगणेश हुआ है। वर्त्तमान शिक्षाप्रणाली ने, शिक्षाप्रणाली में स्वीकृत वर्त्तमान ऐतिहासिक ग्रन्थों ने, वर्त्तमान (पाश्चात्य) विज्ञान के आधार पर समुद्भूत विविध आविष्कारों ने भारतीय प्रजा के मानस जगत् में इस विश्वास को दृढ़मूल बना दिया है कि, यदि उन्नति का कोई श्रेष्ठ मार्ग है, तो वह है एकमात्र पाश्चात्य-शिक्षा ! पाश्चात्य सभ्यता !! पाश्चात्य आचार-व्यवहार !!!

वर्त्तमान शिक्षा की अप्रतिहतगति के अनुग्रह से हम अपने स्वरूप को भूल गए, आत्मविस्मृतिमूलक हमारे दुर्भाग्य का यह पहिला, तथा मुख्य कारण। भारतीय विद्वानों की अनन्य कृपा का प्रहार दूसरा कारण। आर्षसाहित्यमूला आर्षशिक्षा, आर्षशिक्षामूलक आर्षधर्म्म (वर्णाश्रम-धर्म्म), आचार, व्यवहार, संस्कृति, सभ्यता, आदि ऐसे दृढ दुर्ग माने गए हैं, जिन्हें विश्व की कोई भी प्रबलशक्ति स्थानच्युत नहीं कर सकती। ऐसी स्थिति में प्रश्नोत्थान स्वाभाविक बन जाता है कि, जब कि हम अपनी अभेद्य आर्षप्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित थे, तो आर्षप्रतिष्ठा की तुलना में सर्वथा अप्रतिष्ठित पाश्चात्यप्रतिष्ठा ने आर्षप्रतिष्ठा का आसन क्यों, एवं कैसे छीन लिया ? यह एक माना हुआ सिद्धान्त है कि, अपनी निर्बलता ही पराक्रमण-साफल्य का प्रधान कारण है। अवश्य ही जिस युग में पाश्चात्यशिक्षा ने हमारे यहां का आतिथ्य ग्रहण किया, हम अपनी आर्षशिक्षा को या तो भुला चुके होंगे, अथवा तो उसका व्याज से आचरण कर रहे होंगे। अन्यथा आगन्तुक परशिक्षाक्रमण कभी हमें अपनी आर्षशिक्षा-प्रतिष्ठा से च्युत नहीं कर सकता था।

हमारे उपदेशक विद्वान् अपने उपदेशों की प्रथम भूमिका में ही यह घोषणा करते हैं कि, 'पाश्चात्यशिक्षा के प्रभाव से भारतीय नवयुवकों का श्रद्धा-विश्वास सनातनधर्म्मादेशों से हट गया है'। इस सम्बन्ध में हमारे ये विद्वान् बन्धु यह भूल जाते हैं कि, पाश्चात्यशिक्षा के साथ साथ स्वयं हमारा भी इस अश्रद्धान में परोक्ष, तथा प्रत्यक्षरूप से पूर्ण सहयोग है। पहिले तो

हमारा उपदेश ही केवल वाचिक है, उस पर आर्षशास्त्र को हमने दूर से ही प्रणम्य मानते हुए अपने उपदेशों को और भी अधिक शून्यं-शून्यं बना लिया है। कर्त्तव्य की प्रतिच्छाया से भी वञ्चित, आर्षशास्त्र की सर्वथा उपेक्षा करने वाले, सर्वोपरि सामयिक सन्तमत (सम्प्रदायवाद) के अभिनिवेश से सम्पुटित ऐसे उपदेशों, तथा उपदेशक विद्वानों के रहते यदि पाश्चात्य शिक्षा स्वाक्रमण में सफल हो जाय, तो इस में क्या आश्चर्य है।

अङ्गीभूत आर्षशास्त्र (वेदशास्त्र) के रहस्य ज्ञान का अधिकार प्रदान करने के किए जिन 'शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्यौतिष' इन ६ अङ्ग-शास्त्रों ने जन्म लिया था, कुछ एक शताब्दियों से भारतीय विद्वानों ने इन अङ्ग-शास्त्रों के, उनमें भी विशेषतः व्याकरण-शास्त्र के अध्ययनाध्यापन को ही प्रधानता दे रक्खी है। वेदाङ्ग-ज्योतिष का स्थान मयासुरोपबृंहित अर्वाचीन ज्योतिष ने ग्रहण कर रक्खा है। षडङ्गों में से शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द, ये चारों अङ्गशास्त्र भी स्मृतिगर्भ में विलीन हैं। इसके अतिरिक्त काव्य-साहित्यादि ने भी अपनी प्रभुता प्रतिष्ठित कर रक्खी है। इस प्रकार ज्ञान-विज्ञानप्रधान अङ्गीभूत वेदशास्त्र का सर्वथा तिरस्कार कर नाममात्र के लिए अङ्गशास्त्र, विशेषतः काव्य-साहित्य परिशीलन में हीं अपने सम्पूर्ण जीवन की आहुति देने वाला आज का विद्वत्समाज आर्षधर्म्म के मौलिकरहस्यज्ञान (उपपत्तिज्ञान) से सर्वथा पराङ्मुख हो रहा है। यदि विशेष अनुग्रह हुआ, तो स्मृति-ग्रन्थों पर धर्म्म-परिशीलन की सीमा समाप्त मान ली जाती है। सम्भवतः हमारे उन मान्य विद्वानों से यह तिरोहित नहीं है कि, स्मृतिग्रन्थ केवल अनुशासक ग्रन्थ हैं। 'ऐसा करो, ऐसा न करो, जब करो, तब करो' इत्यादि रूप से तत्तदुपादेय कर्म्मों की विधि (आज्ञा) बतलाने वाला, तथा तत्तदनुपादेय शास्त्रविरुद्ध कर्म्मों का निषेध करने वाला विधि-निषेधात्मक ग्रन्थ है। वहां आपकी-'ऐसा ही क्यों करें, ऐसा क्यों न करें' इन जिज्ञासाओं का समाधान प्राप्त नहीं हो सकता। कारण उपपत्ति बतलाना स्मृतिशास्त्र के अधिकार से सर्वथा बहिर्भूत है। यदि भूल से कोई स्मृतिशास्त्र से 'क्यों'? प्रश्न कर बैठता है, तो वह-'नास्तिको वेदनिन्दकः' कह कर उसका तिरस्कार कर देता है।

बात यथार्थ है। प्रधान न्यायालय अपने कनिष्ठ अधिकारी (मातहत) को यह आज्ञा देता है कि, तुम इस आशय का एक आज्ञापत्र प्रजा में वितीर्ण कर दो कि, 'आज से एक सप्ताह पर्य्यन्त कोई भी व्यक्ति रात्रि के ११ बजे पीछे मकान से बाहिर न निकले। यदि कोई इस राजाज्ञा का उल्लङ्घन करेगा, तो वह दण्डनीय समझा जायगा'। आज्ञानुसार कनिष्ठ अधिकारी प्रजा में आज्ञापत्र वितीर्ण कर देता है। कोई भी व्यक्ति इस कनिष्ठ अधिकारी से, जिसका

एकमात्र कर्त्तव्य है—प्रधान न्यायलय से निकले आज्ञापत्र को वितीर्ण कर देना—यह नहीं पूंछता कि-'अमुक आज्ञापत्र क्यों निकाला गया, क्यों ऐसी आज्ञा दी गई ?'। यदि कोई मूर्खतावश पूंछ बैठता है, तो इसे यही उत्तर मिलता है कि-'मैं नहीं जानता, प्रधान न्यायालय से पूछो'। ठीक यही परिस्थिति श्रुति-स्मृतिशास्त्रों के सम्बन्ध में समझिए। श्रुतिशास्त्र अपनी अपौरुषेयता के सम्बन्ध से स्वतः प्रमाण बनता हुआ जहां प्रधान न्यायालय है, वहां स्मृतिशास्त्र 'श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्' के अनुसार श्रौत आज्ञाओं का अनुवदन करता हुआ कनिष्ठ अधिकारी है। वेदविहित (वेदाज्ञासिद्ध) धर्म्म का आदेशमात्र देना ही उसके अपने अधिकारक्षेत्र की अन्तिम सीमा है। यदि उस से कोई जिज्ञासु सद्भावना से उपपत्तिज्ञान के सम्बन्ध में प्रश्न करता है, तो वह उत्तर देता है—

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्म्मज्ञानं विधीयते।
धर्म्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः॥

—मनुः २।१३।

तात्पर्य्य मनुवचन का यही है कि, "जिन्हें धर्म्म के धर्म्मतत्त्वलक्षण उपपत्तिज्ञान-रहस्यज्ञान की जिज्ञासा है, उन्हें वेदशास्त्र का ही स्वाध्याय करना चाहिए। वहीं से प्रत्येक स्मार्त्त-धर्म्मादेश के 'क्यों ? का समाधान प्राप्त हो सकेगा"। जैसा कि निवेदन किया गया है, भारतीय विद्वानों ने वेदार्थ के अध्ययनाध्यापन से अपने आपको उदासीन बना रक्खा है। व्याकरणादि का सामान्य ज्ञान प्राप्त कर इधर उधर की कुछ एक स्मृतियों का आलोडन-विलोडन कर ऐसे ही अर्द्धदग्ध महानुभाव देश के धर्म्माचार्य्य बने हुए हैं। संशय करना मनुष्य का स्वाभाविक धर्म्म है। साथ ही जब तक संशयनिवृत्ति नहीं हो जाती, तब तक संदिग्ध विषय पर श्रद्धा एवं विश्वास का उदय भी सम्भव नहीं है। एक ऐसा नवयुवक, जिसने यावज्जीवन पाश्चात्य-शिक्षा का अनुगमन किया हो, जिसे प्रत्येक विषय युक्ति-तर्क-विज्ञान के आधार पर ही समझाए गए हों, तब तक स्वधर्म्म सिद्धान्तों पर कभी पूर्ण श्रद्धा नहीं कर सकता, जब तक कि उसे धर्म्म का वैज्ञानिकरहस्य युक्ति-तर्क द्वारा नहीं समझा दिया जाता। स्वयं मनुभगवान् ने भी 'यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्म्मं वेद नेतरः' (मनु १२।१०६) इत्यादि रूप से स्पष्ट शब्दों में वेदार्थोपयोगी तर्कवाद को धर्म्मपरिज्ञान के सम्बन्ध में एक आवश्यक साधन स्वीकार किया है।

नवशिक्षा-दीक्षित एक नवयुवक स्वभावतः उत्पन्न सन्देह-निवृत्ति के उद्देश्य से जिज्ञासा रूप से धर्म्माचार्य्यों की सेवा में विनीतभाव से, अथवा तो अपने स्वाभाविक उच्छृङ्खलभाव

से पहुँचता है, और प्रश्न करने लगता है कि—"भगवन्! मृतप्राणियों को निमित्त बनाकर श्राद्धकर्म्म क्यों किया जाता है ?, लाखों कोस दूर बैठे प्राणी (पितर) ब्राह्मणभोजन से क्यों कर तृप्त हो जाते हैं ?, पूर्व शरीर को छोड़ कर प्राणी जब तत्काल नवीन शरीर धारण कर लेता है, तो ऐसी अवस्था में श्राद्ध किस की तृप्ति के लिए किया जाता है ?, एक के उत्पन्न होने से, तथा एक के मर जाने से उस जात-मृत के सभी वंशज अस्पृश्य क्यों मान लिए जाते हैं"। उत्तर में हमारे आचार्य महोदय शास्त्रीय (स्मार्त्त) प्रमाण उद्धृत करते हुए—"शास्त्र ऐसा आदेश देता है, इसलिए ऐसा ही करना न्याय्य है" इस सूक्ति से वे उस आगन्तुक जिज्ञासू की जिज्ञासा शान्त करना चाहते हैं। "शास्त्र ऐसा आदेश क्यों देता है ?" इस सम्बन्ध में आप सर्वथा तटस्थ बने रहते हैं। यदि जिज्ञासू अधिक आग्रह करता है, तो आचार्य्य महोदय क्रुद्ध हो पड़ते हैं, एवं भूताविष्ट बनकर—"तुम तो पाश्चात्यशिक्षा संसर्ग में पड़ कर नास्तिक बन गए, तुम्हें शास्त्रों पर विश्वास नहीं रहा, जाओ तुम्हारे साथ सम्भाषण करने में भी हमें प्रायश्चित्त का भागी होना पड़ेगा" इस प्रकार मत्त प्रलाप करने लगते हैं। इस भर्त्सना का परिणाम यह होता है कि, उस जिज्ञासू को यह विश्वास कर लेना पड़ता है कि,–"वास्तव में सनातनधर्म्म केवल काल्पनिक जगत है, ब्राह्मणों के स्वार्थसाधन का द्वार मात्र है। भला यावज्जीवन धर्म्मशास्त्र का स्वाध्याय-मनन करने वाले विद्वान भी जब धर्म्माज्ञाओं के सम्बन्ध में युक्तियुक्त समाधान नहीं कर सकते, तो ऐसी दशा में इस धर्म्म की काल्पनिकता में क्या सन्देह रह जाता है"। सचमुच आज इस एक महत्त्वपूर्ण कारण से भी धर्म्म-विश्वास उत्तरोत्तर शिथिल होता जा रहा है।

यद्यपि हम मानते हैं कि, उपपत्तिविज्ञानात्मक रहस्यज्ञान सर्व साधारण के परिज्ञान की वस्तु नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति रहस्यज्ञान प्राप्त करके ही धर्म्म का आचरण करे, यह सर्वथा असम्भव है। 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ' (गी० १६ २४) इत्यादि भगवदादेशानुसार शास्त्रीय वचनों पर अनन्यनिष्ठा रखते हुए-'महाजनो येन गतः स पन्थाः' इस न्याय के अनुगमन में हीं सर्वसाधारण का कल्याण है। लक्ष्यैकचक्षुष्कता की तुलना में लक्षणैकचक्षुष्कता ही सिद्धि का अन्यतम द्वार माना गया है। यह सब कुछ जानते हुए भी वर्त्तमान युग के लिए हम उपपत्तिज्ञान-प्रचार को आवश्यकतम साधन माने विना नहीं रह सकते। इसके अतिरिक्त यदि उपपत्तिज्ञान सर्वथा अनावश्यक ही होता, तो स्वयं वेदशास्त्र में, तथा वेदशास्त्र के ब्राह्मणभाग में स्थान स्थान पर उपपत्तिज्ञान का स्पष्टीकरण ही उपलब्ध न होता। ब्राह्मणग्रन्थ प्रतिपादित प्रत्येक क्रत्वर्थकर्म्म, तथा पुरुषार्थकर्म्म की इतिकर्त्तव्यता के

साथ साथ[1] 'तद्यत्-अप उपस्पृशति, मेध्या वा आपः, पवित्रं वा आपः, मेध्यो भूत्वा व्रतमुपायानीति, पवित्रपूतो व्रतमुपायानीति, तस्माद्वा अप उपस्पृशति' (शत० १।१।१।१) इत्यादि रूप से उपपत्तिप्रकरण भी समाविष्ट रहता है। यही क्यों, स्वयं वेदशास्त्र ने ही एक स्थान पर यह स्पष्ट किया है कि, "जो कर्म्म मनोयोगलक्षणा 'श्रद्धा' के, कार्य्य-कारण-सम्बन्धपरिज्ञानात्मिका 'विद्या' के, तथा उपपत्तिज्ञानलक्षणा 'उपनिषत्' के सहयोग से किया जाता है, वह अतिशयरूप से फलप्रद होता है, जैसा कि—'यदेव विद्यया करोति, श्रद्धयोपनिषदा, तदेव वीर्य्यवत्तरं भवति' (छां० उप० १।१।१०) इत्यादि उपनिषच्छ्रुति से प्रमाणित है। इसी आधार पर कारणविज्ञान को श्रेयःप्राप्ति का, तथा कर्म्मसौष्ठव का अन्यतम कारण माना गया है[2]। जिस वर्त्तमानयुग में प्राच्य-प्रतीच्य सभ्यताओं का संघर्ष चल रहा हो, भौतिक, अतएव क्षणिक, अतएव दुःखप्रवर्त्तक, अतएव शून्यं शून्यं-लक्षण जिस विज्ञानशास्त्र को लेकर प्रतीच्य-संस्कृति प्राच्यसंस्कृति का निगरण करने के लिए आज मुंह वाए खड़ी हो, ऐसे विषम युग में 'विषस्य विषमौषधम्'—'कण्टकं कण्टकेनैवोद्धरेत्' इत्यादि लोकन्यायों का अनुगमन करते हुए तो यह सर्वथा आवश्यक हो जाता है कि, प्राणात्मक-अतएव नित्य, अतएव आनन्दप्रवर्त्तक, अतएव पूर्णं पूर्णं-लक्षण भारतीय वेदविज्ञानास्त्र का आश्रय ग्रहण किया जाय। विना ऐसा किए उक्त संघर्ष से प्राच्यसंस्कृति का त्राण पाना कठिन ही नहीं, अपितु सर्वथा असम्भव है। भौतिक महासंग्राम के कारण आज भारतवर्ष संत्रस्त है। परमात्मानुग्रह से जिस दिन संग्रामसाधक-घातक शस्त्रप्रपञ्च निधनावस्था को प्राप्त हो जायगा,

---

१—आहवनीय, तथा गार्हपत्य के मध्य में खड़े होकर आचमन करना ही 'अप-उपस्पर्श' कर्म्म है। क्यों आचमन किया जाता है ? इसी प्रश्न का समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि, पानी मेध्य (सङ्गमनीय) है, पवित्र (दोषमार्जक) है। उधर अपने स्वाभाविक अनृतभाव से पुरुष अमेध्य, तथा अपवित्र है। ऐसी अमेध्य-अपवित्र अध्यात्मसंस्था में मेध्य-पवित्र यज्ञसंस्कार तब तक प्रतिष्ठित नहीं हो सकता, जब तक कि वह किसी उपाय विशेष से मेध्य, तथा पवित्र न बना ली जाय। इसी उद्देश्य से अप-उपस्पर्श कर्म्म किया जाता है, जिसका विशद वैज्ञानिक विवेचन 'शतपथब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञानभाष्य' में निरूपित है।

२ नाकारणं हि शास्त्रेऽस्ति धर्म्मः सूक्ष्मोऽपि जाजले !
कारणाद्धर्म्ममन्विच्छन् स लोकानाप्नुते शुभान् ॥
ज्ञात्वा कर्म्माणि कुर्वीत नाज्ञात्वा कर्म्म आचरेत्।
अज्ञानेन प्रवृत्तस्य स्खलनं स्यात् पदे पदे ॥

उसी दिन संसार कुछ क्षणों के लिए एक बार शान्ति का श्वास ले सकेगा। परन्तु कुछ ही समय पीछे इस अतीत युद्ध से भी कहीं भयङ्कर सांस्कृतिक-संघर्ष का सूत्रपात्र होगा। तत्तद्राष्ट्र अपनी अपनी संस्कृतियाँ लेकर इस संघर्ष में भाग लेंगे। इस अहमहमिका में जिस राष्ट्र की संस्कृति सर्वश्रेष्ठ सिद्ध होगी, वही प्रमुख स्थान पा सकेगी, शेष संस्कृतियाँ उस प्रमुख संस्कृति के उदर में समाविष्ट हो जायँगीं, एवं वही समय युद्ध का अन्तिम निर्णायक समय माना जायगा। क्या उस सांस्कृतिक संघर्ष से भारतराष्ट्र अपने आप को बचा सकेगा ? कभी नहीं, इसे इच्छा से नहीं, तो अनिच्छा से योग देना पड़ेगा, एवं तब इसके सामने यह प्रश्न उपस्थित होगा कि, "मैं इस संघर्ष में विजय प्राप्त करने के लिए कौन सी संस्कृति का अनुगमन करूं"। वर्त्तमान युग के देशनेता भले ही हमारे कथन की आज उपेक्षा कर दें, परन्तु उन्हें कालान्तर में ही यह अनुभव करना पड़ेगा कि, भावी संघर्ष में विजय प्राप्त करने का एकमात्र साधन होगा नित्य-विज्ञानप्रधान-शाश्वतशान्तिप्रदाता आर्षसाहित्य, एवं तन्मूला आर्षसंस्कृति। इस भावी दृष्टिकोण की दृष्टि से भी यह आवश्यक है कि, कारणविज्ञानात्मक आर्षसाहित्य का अधिक से अधिक प्रचार किया जाय। सांस्कृतिक संघर्ष को थोड़ी देर के लिए उपेक्षणीय भी मान लिया जाय, तब भी अपने अभ्युदय के नाते भी इसकी आवश्यकता का अपलाप नहीं किया जा सकता।

वैज्ञानिक तत्त्वों के विलुप्तप्राय हो जाने से ही ईश्वरीय-प्राकृतिक-नित्य-सनातन-मानवधर्म्म आज मतवादरूप में परिणत होता हुआ शान्ति-प्रवृत्ति के स्थान में कलहप्रवृत्ति का कारण बन रहा है। एक 'वाह गुरुजी' के नाम पर समस्त सिक्ख सम्मिलित हो जाते हैं, एक पैगम्बर के नाम पर सम्पूर्ण यवन प्रजा का संघठन सम्भव है। परन्तु सनातनधर्म्म के पास ऐसा आज एक भी उद्घोष नहीं है, जिस के आधार पर वह समस्त सम्प्रदायों का एकसूत्र में संघठन कर सके। केवल वैदिक विज्ञान ही एक ऐसा शङ्ख-नाद है, जिस के आह्वान पर सम्पूर्ण सम्प्रदाएं समवेत हो सकतीं हैं। इस प्रकार साम्प्रदायिक संघठन के नाते भी विज्ञानतत्त्व का प्रचार-प्रसार आवश्यक बन रहा है।

इस विज्ञाननिधि के विस्मृतप्राय हो जाने से ही उस परम वैज्ञानिक अनादि सनातनधर्म्म की आज 'ख्रीष्ट -जैन-बौद्ध-मोहम्मदीय' आदि मतवादों के साथ तुलना की जा रही है। उस वृद्धातिवृद्धप्रपितामह को इन वृद्धातिवृद्धप्रपौत्रों की कक्षा में लाकर इन के साथ उसके औचित्य-अनौचित्य का समतुलन किया जा रहा है। सीमा यहीं समाप्त नहीं हो जाती। उसी के सुपूतों द्वारा इन मतवादों की तुलना में इसे न केवल स्थान ही नीचा दिया जाता, अपितु उसका अपमान

भी किया जा रहा है, उसके प्रति अवाच्यवादों का प्रयोग किया जा रहा है। 'ईसामसीह कैसे थे ? बड़े महात्मा थे, बुद्ध कैसे थे ? अहिंसा-दया-के अवतार थे,' सुस्वागतम्। हां, तो आर्षधर्म्म प्रवर्त्तक ऋषि कैसे थे ? बड़े स्वार्थी थे, मानव सभ्यता के अन्यतम शत्रु थे, पक्षपाती थे' यह है आज की उस समालोचना का निष्कर्ष, जिसके समर्थक निवन्धों को पढ़कर आज भारतीय नवयुवक अपनी प्रतिभा का सदुपयोग (?) कर रहे हैं। सौभाग्य कहिए, अथवा दुर्भाग्य, कोई सा ही सामयिकपत्र (समाचारपत्र) बचा होगा, जो आए दिन धर्म्माज्ञाओं की, तत्प्रवर्त्तक महर्षियों की, तदनुगामी सनातनधर्म्मावलम्बियों की निन्दा से अपने श्रीमुख पर कालिख न पोतता होगा ? वह समाचारपत्र पत्र ही क्या, जिस के प्रत्येक अङ्क में धर्म्मविरुद्ध कार्य्यों के दो चार समाचार समाविष्ट न हों। आज तो हमारा यहां तक पतन हो गया है कि, हमने अपने मनोरञ्जक चित्रपटों में भी धर्म्मनिन्दा को अपना प्रधान लक्ष्य बना लिया है, और ऐसे ही चित्रपट आज हमारे लिए विशेष आकर्षण की वस्तु बने हुए हैं। देश-नेताओं के कर-कमलों के द्वारा उद्घाटित कतिपय सामाजिक चित्रपटों में रुढिवाद के नाश के नाम पर भारतीय-वर्णाश्रमधर्म्म पर उसी के प्रसूनों द्वारा जो प्रसूनवृष्टि देखने सुनने में आती है, वह एक प्रकार से हमारी संस्कृति की पतन की ही सूचिका मानी जायगी। एवमेव पाश्चात्य-संस्कृति की अरुण-प्रतिभा से युक्त भारतीय नवयुवकों में से कोई सा ही ऐसा सौभाग्यशाली युवक बच रहा होगा, जो प्रातः सायं उठते-सोते अपने इस पूज्य का उपहासादि साधनों से सत्कार न करता होगा।

छोड़िए पाश्चात्यशिक्षा-दीक्षितों की बात। विद्वानों में से भी ऐसा कोई विरला ही विद्वान् होगा, जो अन्तःकरण से सनातनधर्म्म के प्रत्येक आदेश के सामने अपना मस्तक विनम्र कर देता होगा। जो विद्वान् अपने आपको प्राच्यसंस्कृति के अनन्य पोषक कहते हैं, जो 'कट्टर-सनातनधर्म्मी' उपाधि से अपने आपको गौरवान्वित मानते हैं, जो आए दिन सभामञ्चकाष्ठों का अपने ताण्डवनृत्य से दर्पदलन करते हुए अहमहमिका-कर्म्म से चाणूर-मुष्टिप्रसङ्ग का स्मरण कराते हुए अर्थशून्य सनातनधर्म्मसभाओं को ऋणग्रस्त बनाने का पुण्य सञ्चय करते रहते हैं, धर्म्म के जयघोषों से जो द्यावापृथिवी (आकाशपाताल) के विच्छेद को हटाते रहते हैं, ऐसे उपदेशकों से यदि उनका ही कोई अन्तरङ्ग व्यक्ति धर्म्माज्ञाओं के सम्बन्ध में जब कभी सन्देहात्मक प्रश्न कर बैठता है, तो उनके मुखविवर से भी यही उत्तर निकलता है कि, 'ऐसा प्रश्न करना व्यर्थ है। हम स्वयं जब कभी विचार करते हैं, तो ऐसा ही प्रतीत होता है, मानो यह सब केवल कल्पना का ही साम्राज्य हो। परन्तु क्या करें, सर्वसाधारण के द्वारा प्राप्त प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए, तथा आजीविका-निर्वाह के लिए जान बूझ कर आत्मा को धोका देना ही

पड़ता है'। जब अपने घर की ही यह दुर्दशा है, तो नवशिक्षित, तथा अन्यमतावलम्बी सनातनधर्म्म पर यदि आक्षेप करते हैं, तो इस में उनका क्या अपराध है। वे तो जिज्ञासू हैं, वास्तविक तत्त्व के पिपासू हैं। जब विद्वान् उन्हें सन्तुष्ट नहीं कर सकते, अपितु पुरस्कार में विद्वानों की ओर से उन्हें 'नास्तिक' की उपाधि प्राप्त होती है, तो वे क्यों न सनातनधर्म्म से विमुख होंगे। इसी परिस्थिति के आधार पर हम कह सकते हैं कि, आज सनातनधर्म्म पर जनता का जो अविश्वास बढ़ता जा रहा है, उसका एक कारण वेदतत्त्वानभिज्ञ, अतएव उपपत्ति-ज्ञानशून्य (रहस्यज्ञानशून्य) इन पण्डितम्मन्यों के, तथा 'आचार्य' उपाधि-विभूषित धर्म्माध्यक्षों के द्वारा धर्म्मोपदेश का सञ्चालित होना भी है।

'अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
दंद्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥'

—कठोपनिषत्—१।२।५।

उक्त औपनिषद सिद्धान्त के अनुसार स्वयं लक्ष्यच्युत ये धर्म्मरक्षक अन्य मुग्ध श्रद्धालु समाज का भी अन्धकूप में निक्षेप कर रहे हैं। सभी क्षेत्रों में आज उक्त वचन चरितार्थ हो रहा है। सभी नेता हैं, सभी पण्डित हैं, सभी उपदेशक हैं, सभी सुधारक हैं, सभी सब कुछ हैं। अन्धों का समुदाय अन्धों को मार्ग दिखा रहा है। ऐसी स्थिति में 'कुतस्तत्र प्रतीकारो रक्षको यत्र भक्षकः' के अनुसार इन रक्षकों से भक्षित आर्षसंस्कृति अद्यावधि कैसे बच रही, यही एक महा आश्चर्य है।

शिक्षा हमारे हाथ से जाती रही, यह अविश्वास का पहिला कारण। एवं वेदस्वाध्याय का परित्याग कर अन्य ग्रन्थों में आयुः समाप्त करने वाले अयोग्य विद्वानों, तथा धर्म्माचार्य्यों के हाथ में धर्म्मसूत्र (धर्म्म की बागडोर) का चला जाना अविश्वास का दूसरा कारण। इन दोनों कारणों में से प्रथम कारण की चिकित्सा कई एक प्रतिबन्धकों से शीघ्र सम्भव नहीं है। देश अपनी पादप्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित हो कर स्वस्वरूप को सुरक्षित रखता हुआ जब पहिले स्वतन्त्रता प्राप्त करले, तब इसे शिक्षा-स्वातन्त्र्य उपलब्ध हो। एवं आर्षसाहित्य का जब पूर्ण प्रचार हो, तब कहीं स्वतन्त्रताप्रापक प्रतिष्ठाबल प्राप्त हो। ऐसी परिस्थिति में 'वर्त्तमान दशा में वर्त्तमान शिक्षा पर हमारा स्वतन्त्ररूप से नियन्त्रण हो जायगा, एवं हम उसमें ऐच्छिक परिवर्त्तन कर सकेंगे' यह खपुष्पसम केवल कल्पना ही रह जाती है। दूसरा उपाय है—वैदिक-विज्ञान का प्रचार प्रसार। इस नवीन युग के सम्मुख जब तक धर्म्म के प्रत्येक अंश की उपपत्ति (वैज्ञानिक

रहस्य) उपस्थित नहीं करदी जायगी, तब तक उखड़ा हुआ धर्म्मविश्वास पुनः प्रतिष्ठित न हो सकेगा। **'नवीनमार्गानुयायी अपने मौलिक साहित्य की वैज्ञानिकता का स्वरूप समझते हुए उसकी आवश्यकतम उपादेयता स्वीकार करें, तद्द्वारा प्राप्त प्रतिष्ठाबल पर स्वलक्ष्य सिद्धि में सफलता प्राप्त करें, तथा विद्वानों की वैदिक-विज्ञान की ओर प्रवृत्ति हो, एवं तदाश्रयद्वारा वे जनता की वास्तविक धर्म्मभावनाओं को पुष्पित-पल्लवित करें, 'श्राद्धविज्ञान' व्याज से इन्ही उद्देश्यों की सिद्धि के लिए 'श्राद्धविज्ञाननिबन्ध' उपस्थित हो रहा है'** यही श्राद्धविज्ञान रचना-कारणत्रयी में से दूसरे कारण का संक्षिप्त निदर्शन है।

सनातनधर्म्मावलम्बी आर्ष-प्रजावर्ग का आज हम तीन भागों में श्रेणि-विभाग मान सकते हैं, एवं उन्हें क्रमशः **राष्ट्रीयवर्ग, विद्वद्वर्ग, साधारणश्रद्धालुवर्ग,** इन नामों से व्यवहृत किया जा सकता है। राष्ट्रीयवर्ग की दृष्टि में राष्ट्रनिर्म्माण में, राष्ट्रोन्नति में, किंवा राष्ट्र के स्वतन्त्रतायज्ञ में धर्म्म सर्वथा अनपेक्षित तत्त्व है। प्रत्युत यह वर्ग धर्म्म को राष्ट्रोन्नति, तथा समाजोन्नति, दोनों का एक महान् प्रतिबन्धक मानने की भूल कर रहा है, जब कि राष्ट शब्द का सर्वप्रथम जन्मदाता ही सनातनधर्म्म माना गया है। इस सम्बन्ध में हमारा अपना तो यह भी विश्वास है कि, सनातनशास्त्र, तथा तदनुगत सनातनधर्म्म को मूलप्रतिष्ठा बनाए बिना कम से कम भारतराष्ट्र का अभ्युदय तो एकान्ततः असम्भव ही है। सामान्य-राष्ट्रीय विधानों के अतिरिक्त आर्षशास्त्र प्रवर्त्तक महर्षियों ने प्राकृतिक विज्ञान के आधार पर कुछ एक ऐसे गुप्त कारणों का अन्वेषण किया है, जिन के रहते राष्ट्र कभी स्वतन्त्र नहीं हो सकता। साथ ही उन कारणों को दूर कर राष्ट्र-स्वातन्त्र्य के लिए एक विशेष प्रकार के वैज्ञानिक-कर्म्म का भी आविष्कार किया है, जो कि कर्म्म ब्राह्मणग्रन्थों में **'राष्ट्रभृत्'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

तृतीय कारण निदर्शन—

राष्ट्र क्यों निर्बल हो जाता है? निर्बल-राष्ट्र पराक्रमण का सामना करने में असमर्थ होता हुआ कैसे परतन्त्र हो जाता है? ब्राह्मण-श्रुति ने पहिले इन प्रश्नों का समाधान किया है। बतलाया गया है कि, अर्थशक्तिरूप विड्वीर्य्य राष्ट्र का वास्तविक स्वरूप है। अर्थ ही राष्ट्र है। जिस राष्ट्र का अर्थबल क्षीण हो जाता है, निश्चयेन वह राष्ट्र अर्थाभाव में पराक्रमण सहने के साधनों से वञ्चित होता हुआ परतन्त्र बन जाता है। अतः राष्ट्र-स्वरूप-रक्षा के लिए अर्थ-स्वातन्त्र्य सर्वप्रथम अपेक्षित है। प्रश्न उपस्थित होता है कि, राष्ट्र का अर्थबल कैसे सुरक्षित रक्खा जाय? इस प्रश्न का समाधान करते हुए श्रुति ने 'ब्रह्म-क्षत्र' नामक द्वन्द्व की ओर हमारा

ध्यान आकर्षित किया है। ब्रह्मवीर्य्य राष्ट्र का ज्ञानबल है, क्षत्रवीर्य्य राष्ट्र का कर्म्मबल है। ज्ञान-सहकृत कर्म्म ही अर्थरूप राष्ट्र का, किंवा राष्ट्ररूप अर्थ का स्वरूप रक्षक है। जब राष्ट्र का ज्ञानबल अभिभूत हो जाता है, तो ज्ञानानुगत कर्म्मबल सर्वथा उच्छृङ्खल बन जाता है। ज्ञानवञ्चित ऐसा उच्छृङ्खल कर्म्म अर्थरक्षा में सर्वथा असमर्थ होता हुआ निश्चयेन राष्ट्रपारतन्त्र्य का प्रवर्त्तक बन जाता है। अतएव आवश्यक है कि, अर्थरक्षा के लिए कर्म्मगुप्ति का आश्रय लिया जाय, एवं कर्म्मसौष्ठव के लिए ज्ञानगुप्ति को मूलप्रतिष्ठा बनाया जाय। इस प्रकार ज्ञानशक्तिरूप ब्रह्म, तथा क्रियाशक्तिरूप क्षत्र, इन दो रक्षकों की सत्ता में ही अर्थशक्तिरूप विट् (राष्ट्र) सुगुप्त रहता हुआ बलवान् रह सकता है। एवं ऐसे ब्रह्म-क्षत्रानुगृहीत अर्थलक्षण राष्ट्र की स्वतन्त्रता पर कोई भी शक्ति आक्रमण नहीं कर सकती।

विचार करने पर वर्त्तमान परतन्त्रता का यही एक मुख्य कारण हमारे सम्मुख उपस्थित हो रहा है। भारतवर्ष के पास आज भी अर्थबल (कोष) की कमी नहीं है। परन्तु दुःख है कि, वह अपनी इस अर्थशक्ति का अपने राष्ट्रनिर्म्माण में अणुमात्र भी उपयोग नहीं कर सकता। क्यों हमारी अर्थशक्ति पर परराष्ट्रों का एकान्त स्वत्त्वाधिकार प्रतिष्ठित हो गया? इस प्रश्न का उत्तर भी स्पष्ट है। तमोगुणप्रधाना अर्थशक्ति सभी राष्ट्रों के लिए आकर्षण की वस्तु है। जब तक यह अर्थशक्ति रजोगुणप्रधाना क्रियाशक्ति, तथा सत्त्वगुणप्रधाना ज्ञानशक्ति से सुरक्षित रहती है, दूसरे शब्दों में जब तक राष्ट्र के ज्ञानबल, सेनाबल, दोनों अपने अधिकार में रहते हैं, तब तक उसका अर्थबल सुरक्षित रहता है, एवं तब तक राष्ट्र की स्वतन्त्रता अक्षुण्ण बनी रहती है। ज्ञानबलप्रवर्त्तक देश के ब्राह्मणवर्ग ने जिस दिन से वेदगुप्ति का परित्याग किया, उसी दिन से ज्ञानानुगत क्षत्रबल क्षत्रियों के हाथ से निकल गया। दोनों से वञ्चित अर्थ अरक्षित रहता हुआ पर-गिद्धों का बलि बन गया। इस विवेचना से यह स्पष्ट है कि, अर्थलक्षणराष्ट्र की स्वरूपरक्षा एकमात्र ब्रह्म-क्षत्र मिथुन पर ही अवलम्बित है।

भारतवर्ष का ब्रह्म-क्षत्र बलात्मक मिथुनभाव क्यों निर्बल हो गया? इस प्रश्न का तात्त्विक कारण बतलाती हुई श्रुति आगे जाकर कहती है कि, जिस राष्ट्र में से प्राकृतिक प्राणदेवताओं का विनिर्गम हो जाता है, उस राष्ट्र का ब्रह्म-क्षत्रात्मक मिथुनभाव निर्बल बन जाता है। '१अग्नि-२ओषधि, १सूर्य्य-२मरीचि, १चन्द्रमा-२नक्षत्र, १वात-२आपः, १यज्ञ-२दक्षिणा, १मन-२ऋक्साम,' ये ६ युग्म ब्रह्म-क्षत्र मिथुन के स्वरूप रक्षक माने गए हैं। अतएव 'एते देवा राष्ट्रभृतः' के अनुसार ये ही प्राणदेवता राष्ट्रस्वरूप के धारण करने वाले माने गए हैं। इनमें

अग्नि, सूर्य्य, चन्द्रमा, वात, यज्ञ, मन, ये ६ देवता ब्रह्मवीर्य्य के संरक्षक हैं, एवं ओषधि, मरीचि, नक्षत्र, आपः, दक्षिणा, ऋक्साम, ये ६ देवता क्षत्रवीर्य्य के संरक्षक हैं। ऋषि कहते हैं कि, जिस राष्ट्र को परतन्त्र देखो, विश्वास करो उस राष्ट्र का ज्ञानानुगत ब्रह्मबल, तथा कर्म्मानुगत क्षत्रबल, दोनों जर्ज्जरित हैं। एवं जिस राष्ट्र को ब्रह्म-क्षत्र-वीर्यों से वञ्चित देखो, विश्वास करो उस राष्ट्र के ब्रह्म-क्षत्रवीर्य्य संरक्षक दोनों बल उक्त ६ ओं द्वन्द्वदेवताओं के अनुग्रह से वञ्चित हो गए हैं। ऐसी स्थिति में यदि तुम्हें अपनी राष्ट्र की प्रतिष्ठा पुनः अपेक्षित है, तो राष्ट्र में ब्रह्म-क्षत्र को पुनरुज्जीवित करना पड़ेगा। इसके लिए उन द्वन्द्वदेवताओं का अपने राष्ट्र में समावेश करना आवश्यक होगा। एवं इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए 'राष्ट्रभृत' नामक यज्ञप्रक्रिया का अनुगमन करना पड़ेगा, जिसका निम्नलिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है—

१—'अथातो राष्ट्रभृतो जुहोति-राजानो वै राष्ट्रभृतः। ते हि राष्ट्राणि बिभ्रति। एता ह देवताः सुता एतेन सवेन येनैतत् सोष्यमाणो भवति, ता एवैतत् प्रीणाति। ताऽअस्मा इष्टाः प्रीता एतं सवमनुमन्यन्ते, ताभिरनुमतः सूयते। यस्मै वै राजानो राज्यमनुमन्यन्ते, स राजा भवति। न स यस्मै, न तत्। राजानो राष्ट्राणि बिभ्रति, राजान उऽएते देवाः, तस्मादेता राष्ट्रभृतः'॥

२—'मिथुनानि जुहोति। मिथुनाद्वाऽअधि प्रजातिः। यो वै प्रजायते, सराष्ट्रं भवति। अराष्ट्रं वै स भवति, यो न प्रजायते। तद्यन्मिथुनानि राष्ट्रं बिभ्रति, मिथुना उऽएते देवाः। तस्मादेता राष्ट्रभृतः'॥

३—'[1]अग्निर्गन्धर्वः, [2]तस्यौषधयोऽप्सरसः। [1]सूर्य्यो गन्धर्वः, [2]तस्य मरीचयोऽप्सरसः। [1]चन्द्रमा गन्धर्वः, तस्य [2]नक्षत्राण्यप्सरसः। [1]वातो गन्धर्वः, तस्य [2]आपोऽअप्सरसः। [1]यज्ञो गन्धर्वः, तस्य [2]दक्षिणा अप्सरसः। [1]मनो गन्धर्वः, तस्य [2]ऽऋक्सामान्यप्सरसः। आशासते-इति-नोऽस्त्वित्थं, नोऽस्त्विति। स न इदं ब्रह्म-क्षत्रं पातु-इति। तस्योक्तो बन्धुः।'

—शत० ९ कां०।४अ०।१ब्रा०।

सर्व प्रथम ज्ञानशक्ति-प्रवर्त्तक ब्रह्मबल, तदनुगत क्रियाशक्ति-प्रवर्त्तक क्षत्रबल, ब्रह्म-क्षत्रानुगृहीत-अर्थशक्तिप्रवर्त्तक विड्बल, तीनों राष्ट्र की प्रधान सम्पत्तियाँ हैं, यह उक्त कथन से

भलीभांति सिद्ध हो जाता है। साथ ही यह भी स्वतः सिद्ध है कि, अर्थबलापेक्षया क्रियाबल श्रेष्ठ है, सर्वापेक्षया ज्ञानबल ज्येष्ठ, तथा श्रेष्ठ है। ज्ञानबलोपासक ब्रह्मवीर्य्यप्रधान (जात्या-ब्राह्मण) ब्राह्मणवर्ग वेदगुप्ति द्वारा स्वब्रह्मवर्चसे राष्ट्र की ज्ञानानुगता ब्रह्मविभूति सुरक्षित रखने वाला माना गया है। क्रियाबलोपासक क्षत्रवीर्य्यप्रधान क्षत्रियवर्ग ब्रह्मद्वारा (ब्राह्मण द्वारा) प्राप्त ज्ञानप्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित होता हुआ रथ, अश्व, आदि वाहनबल के द्वारा, धनुषादि शस्त्रबल के द्वारा बाह्य आक्रमण से राष्ट्र की रक्षा करता हुआ राष्ट्र की क्रियानुगता क्षत्र-विभूति का रक्षक माना गया है। ब्रह्म-क्षत्रबलों से सुगुप्त, अतएव 'गुप्त' इस उपाधि से विभूषित अर्थ-बलोपासक विड्वीर्य्यप्रधान वैश्यवर्ग कृषि-गोरक्षा-वाणिज्य-द्वारा स्व-सञ्चित अर्थ का ब्रह्म-क्षत्र के आदेशानुसार राष्ट्रनिर्म्माण में उपयोग करता हुआ राष्ट्र की विड्विभूति का संरक्षक माना गया है। इन तीनों पुरुषविभूतियों के अतिरिक्त कृषिकर्मोपयुक्ता दुधारी गाएं, सबल अनड्वान्, आदिलक्षण पशुसम्पत् भी नितान्त अपेक्षित है। वीर्य्यानुगता द्विजातिप्रजा (ब्रा० क्ष० वै० प्रजा) की रक्तशुद्धि के लिए राष्ट्र की नारी-सम्पत्ति का भी निर्दुष्ट रहना परम अपेक्षित है। सर्वोपरि प्रकृति का निरापद बना रहना भी अत्यावश्यक है, जिसके लिए प्राकृतधर्म्म (सनातनधर्म्म) का अनुगमन सतत अपेक्षित माना गया है। धर्मानुष्ठान से प्रकृति राष्ट्र के अनुकूल रहती है, पूर्वोक्त ब्रह्म-क्षत्रप्रवर्त्तक देवताद्वन्द्वों का अनुग्रह सुरक्षित रहता है, फलतः समय पर वृष्टि होती है, औषधि-वनस्पतियों का परिपाक होता रहता है। इसी प्राकृतिक अनुग्रह से ब्रह्म-क्षत्र-विड्बलत्रयी, पशुबल, आदि राष्ट्रोपयोगी सभी साधन पुष्पित पल्लवित बने रहते हैं। और इन सब साधन-सामग्रियों से राष्ट्र का योग (सम्पत्प्राप्ति), तथा क्षेम (प्राप्तसम्पत्ति का संरक्षण) भलीभांति होता रहता है। एक स्वतन्त्र राष्ट्र की स्वतन्त्रतासाधक इन्हीं यच्चयावत् साधन-सामग्रियों का केवल अपने एक स्तुतिमन्त्र से विश्लेषण करते हुए राष्ट्रस्वातन्त्र्य के अनन्यप्रेमी वेदमहर्षि कहते हैं—

१ 'आ ब्रह्मन्! ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्
आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्
दोग्ध्री धेनुः, वोढानड्वान्, आशुः सप्तिः, पुरन्धिर्योषा, जिष्णू रथेष्ठाः

१—मन्त्र की विशद वैज्ञानिक व्याख्या 'गीताविज्ञानभाष्यभूमिका-बहिरङ्गपरीक्षात्मक-प्रथमखण्ड' में देखनी चाहिए।

सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्
निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु
फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्
योग-क्षेमो नः कल्पताम्'

—यजुःसंहिता २२ अ०। २२ मं०।

जिस प्रकृति के द्वारा सम्पूर्ण चराचर-विश्व का एक सुव्यवस्थित क्रम से सञ्चालन हो रहा है, वही प्रकृतितत्त्व उपनिषच्छास्त्र में 'अन्तर्य्यामी' कहलाया है। प्रत्येक वस्तु के केन्द्र में प्रतिष्ठित रहने वाले इसी प्रकृतितत्त्व से चूंकि तद्वस्तु-विवर्त्त का नियतभाव से नियमन होता रहता है, अतएव इसे-'अन्तस्तिष्ठन् नियमयति' निर्वचन से 'अन्तर्य्यामी' कहना अन्वर्थ बनता है। वस्तुकेन्द्र 'हृदयम्' कहलाया है। इस हृदय में प्रतिष्ठित अन्तर्य्यामी 'हृ' लक्षण आदानधर्म्म से, 'द' लक्षण विसर्गधर्म्म से, एवं 'यम्' लक्षण नियमनधर्म्म से आगति-गति-स्थिति-भावों द्वारा अग्नीषोमात्मक वस्तुपिण्डों का स्वरूपरक्षक बन रहा है। हृदय में 'हृ-द-य' रूप से प्रतिष्ठित यही अन्तर्य्यामी अपनी नियत-एकरूप-वृत्ति से 'नियतिः सत्यम्' कहलाया है। यही 'अनिरुक्त हृद्य प्रजापति' है, जिसका—प्रजापतिश्चरति गर्भे०' (यजुः सं० ३१।१६) इत्यादि मन्त्र से स्पष्टीकरण हुआ है। इसी अन्तर्य्यामी, हृत्प्रतिष्ठ, हृ-द-य-मूर्त्ति प्रजापति (प्रकृतितत्त्व) का विश्लेषण करते हुए ब्राह्मणश्रुति ने कहा है—

'एष प्रजापतिर्यत्-हृदयम्। एतद् ब्रह्म, एत सर्वम्। तदेतत्त्र्यक्षरं-'हृदय' मिति (हृ-द-यम्-इति)। 'हृ' इत्येकमक्षरम्। अभिहरन्त्यस्मै-स्वाश्चान्ये च, य एवं वेद। 'द' इत्येकमक्षरम्। ददन्त्यस्मै-स्वाश्चान्ये च, य एवं वेद। 'यम्' इत्येकमक्षरम्। एति स्वर्ग-लोकं, य एवं वेद। तद्वै तदेतदेव तदास-सत्यमेव। स यो हैवमेतन्महद्यक्षं प्रथमजं वेद 'सत्यं ब्रह्मे' ति, जयतीमाँल्लोकान्। सत्यं ह्येव ब्रह्म।'

—शत० १४ कां ८अ० ४,५ ब्रा०

'वेत्थ नु त्वं तमन्तर्य्यामिणं-य इमं च लोकं, परं च लोकं, सर्वाणि च भूतानि अन्तरो यमयति, इति। यः (हृदये) तिष्ठन्-अन्तरो यमयतीति, स त ऽआत्मा अन्तर्य्यामी, अमृतः'।

—शत० १४।६।७ ब्रा०

हृदयस्थित 'हृ-द-य' मूर्त्ति इस सत्यप्रजापति की नियत्तवृत्ति ही 'धर्म्म' है। जिस वस्तु के केन्द्र में उपाधि-भेदभिन्न जैसा अन्तर्य्यामी-सत्य प्रतिष्ठित है, वह वस्तु तदनुरूपा वृत्ति से ही युक्त रहती है। पानी अपने सत्यधर्म्म से सदा निम्नगामी ही रहता है, अग्नि अपने सत्यधर्म्म से सदा ऊर्ध्वगामी ही रहता है, वायु तिर्य्यग्गामी ही रहता है। यही उपाधिकृत प्राकृतिक नित्य धर्म्म-भेद है, यही स्व-धर्म्म है, यही स्वधर्म्म तद्वस्तु का स्वरूप रक्षक है। प्राकृतिक अविचाली भाव ही सत्य है, यही धर्म्म है। अतएव '**यो वै धर्म्मः, सत्यं वै**' (शत० १४।४।२।२।६) इत्यादि रूप से उक्थरूपेण हृदय में प्रतिष्ठित सत्यलक्षण अन्तर्य्यामी का, तथा अर्करूप से बहि-र्विनिःसृत धर्म्मलक्षणा बाह्यवृत्ति का अभेद मान लिया गया है। अन्तर्य्यामी-सत्य के धर्म्मलक्षण प्राकृतिक तत्त्व का विश्लेषण करने वाला प्राकृतिक शास्त्र ही आर्षशास्त्र (वेदशास्त्र) है, अतएव यह शास्त्र अपौरुषेय माना गया है। इस अपौरुषेय शास्त्र के आधार पर प्रतिष्ठित श्रौतस्मार्त्त-लक्षण सनातनधर्म्म ही प्राकृतिक धर्म्म है, जिस की नित्यसिद्धा वर्णावर्णसृष्टि के आधार पर धर्म्मभेदरूपेण व्यवस्था हुई है। वर्णानुगति से ही यह वेदाज्ञासिद्ध प्राकृतिक सनातनधर्म्म '**वर्णाश्रमधर्म्म**' नाम से व्यवहृत हुआ है। इस प्राकृतिक नित्यधर्म्म का जब आर्षप्रजा परित्याग कर देती है, तो तत्सम्बद्धा प्रकृति कुपित हो जाती है। प्रकृतिक्षोभ से शान्तिसंवाहक देवता-द्वन्द्व कुपित हो जाते हैं। फलतः राष्ट्रसमृद्धि विनाशोन्मुखा बन जाती है, जिसका प्रत्यक्ष निदर्शन समृद्धिशून्य वर्त्तमान भारतराष्ट्र बन रहा है। इस दृष्टिकोण से भी धर्म्म की राष्ट्रसमृद्धि में भली भांति उपयोगिता सिद्ध हो जाती है। जो राष्ट्रवादी भारतीय धर्म्म के इस मौलिक-प्राकृतिक-सत्य-स्वरूप से अपरिचित रहते हुए सनातनधर्म्म, तथा धर्म्मरहस्यप्रतिपादक वेदशास्त्र को राष्ट्र के अभ्युदय में प्रतिबन्धक मान रहे हैं, क्या यह उनका राष्ट्रसमृद्धि-विनाशक प्रौढिवाद नहीं है ?

अस्तु. राष्ट्रीयवर्ग किस अज्ञात कारण से धर्म्म को प्रतिबन्धक मान रहा है ? इस प्रश्न की मीमांसा में न पड़ते हुए क्रमप्राप्त दूसरे विद्वद्वर्ग की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। संस्कृतज्ञ विद्वान् धर्म्म का परिशीलन करते हुए भी आर्षशास्त्र की उपेक्षा से धर्म्म के रहस्यज्ञान से वञ्चित होते हुए एक प्रकार से व्याजपूर्वक धर्म्माचरण (धर्म्माचरण का ढोंग) कर रहे हैं। सच पूंछिए तो ऐसे विद्वानों की कृपा से ही राष्ट्रीयवर्ग धर्म्म से विमुख हुआ, एवं होता जा रहा है। अभ्युदय (ऐहलौकिक), एवं निःश्रेयस (पारलौकिक) साधक धर्म्म के आचरण का उद्घोष करने वाले विद्वानों की जैसी प्रवृत्ति आज देखी सुनी जाती है, सचमुच वह एक उद्वेगकर समस्या है। मानसिक दासता का जैसा पूर्ण विकास विद्वद्वर्ग में उपलब्ध हो रहा है, खोजने से भी अन्यत्र उपलब्ध न होगा। अर्थपाश में बांध कर आज आप विद्वानों

से यथेच्छ धर्म्मव्यवस्था प्राप्त कर सकते हैं। कणलोभग्रस्त विद्वान् पातकी से पातकी व्यक्ति को भी धर्म्मरक्षक, धर्म्माचार्य्य, आदि उपाधियों से अलङ्कृत कर सकते हैं। स्वार्थवश सत्य का गला घोंट देना आज इन की स्वाभाविक चर्या बन रही है। आत्माभिमान आज इनके लिए दूर से ही प्रणम्य बन रहा है। यही कारण है कि, आज इस वर्ग के प्रति सभी वर्ग अश्रद्धात्मक अवाच्यवादों का प्रयोग करते नहीं अघा रहे।

तीसरा क्रमप्राप्त अस्मदादि साधारण मनुष्यों का श्रद्धालुवर्ग है। यह वर्ग शास्त्र पर पूर्ण निष्ठा रखता है। कुतर्कियों के तर्कजाल का समुचित उत्तर देने की क्षमता न रखता हुआ भी यह आस्तिकवर्ग चिरन्तन संस्कारवश, तथा संस्कारविघातिका पाश्चात्य-शिक्षासंसर्ग के अभावात्मक अनुग्रह से अद्यावधि स्वधर्म्म पर यथाकथञ्चित् प्रतिष्ठित है। वस्तुस्थिति तो यह है कि, इस श्रद्धालु-वर्ग की आस्था के बल पर ही अद्यावधि धर्म्मनिष्ठा यथाकथञ्चित् प्रक्रान्त है। आस्तिकवर्ग की इस सहज श्रद्धा का हृदय से अभिनन्दन करते हुए हम उससे यह निवेदन कर देना आवश्यक समझते हैं कि, जो कर्म्म, जो धर्म्म बिना ज्ञान का आश्रय लिए केवल प्रणाली (अन्धःप्रणाली) का अनुगामी बना रहता है, कालान्तर में उसमें शैथिल्य आ जाता है। उदाहरण के लिए श्राद्धकर्म्म ही पर्य्याप्त होगा। श्राद्ध के मौलिक रहस्य-ज्ञानाभाव से आज श्राद्धेतिकर्त्तव्यता में अनेक दोषों का समावेश हो गया है। जहां श्राद्धकर्म्म के लिए—'अपराह्णः पितॄणाम्' के अनुसार अपराह्ण (मध्याह्नोत्तर) काल नियत है, वहां 'पूर्वाह्णो वै देवानाम्' के अनुसार देवकर्म्म के लिए नियत पूर्वाह्ण से पहिले ही श्राद्धेतिकर्त्तव्यता पूरी कर ली जाती है। पिण्डप्रदान ही श्राद्धकर्म्म की मुख्य प्रतिष्ठा है। पिण्डगत सौम्यप्राण ही श्रद्धासूत्रद्वारा श्रद्धासूत्र के आधार पर वितत पुत्रादिगत श्रद्धाभाव से परलोकस्थ प्रेत पितरों की तृप्ति का कारण माना गया है। इधर आज केवल अङ्गकर्म्मात्मक ब्राह्मणभोजन कर्म्म को ही प्रधानरूपेण श्राद्ध का स्वरूपसमर्पक माना जा रहा है। वैध-विधि से वञ्चित ऐसा कर्म्म न केवल व्यर्थ ही जाता, अपितु ऐसा अवैध कर्म्म अभ्युदय के स्थान में प्रत्यवायजनक बन जाता है। देवता का आह्वान न करना कहीं उत्तम पक्ष है। परन्तु संकल्पद्वारा देवता का आह्वान कर उसका सत्कार न करना अनर्थ का बीजवपन करना है। "मैं आज पिण्डपितृ-यज्ञ करूंगा" इस मानस संकल्प से प्राणात्मक पितृदेवता श्रद्धासूत्र द्वारा परलोक से आकर श्राद्धकर्त्ता यजमान की आध्यात्मिक संस्था में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। इनकी तृप्ति का प्रधान साधन पिण्डगत सौम्यप्राण है। यदि इन्हें वह प्राप्त नहीं होता, तो अभिशाप देते हुए पितर पराङ्मुख हो जाते हैं।

कितने एक महानुभावों के मुख से श्राद्धकर्म्म की उपपत्ति के सम्बन्ध म यह भी कहते सुना गया है कि, 'सामाजिक मैत्री सुरक्षित रखने के लिए ही वर्ष में १५ दिन भोजन कराने के लिए नियत कर दिए गए हैं'। इस प्रकार अज्ञानतावश नवीन नवीन कल्पनाओं के आधार पर आज प्रत्येक कर्म्म विरुद्धभावानुगत होता हुआ अभ्युदय के स्थान में सर्वनाश का कारण बन रहा है। जो महानुभाव श्राद्ध– यज्ञादि नहीं करते, लोकसम्पत्ति की दृष्टि से वे सुखी देखे जाते हैं। इधर श्राद्धादि शास्त्रीय कर्म्मों की अनुगामिनी प्रजा दुःखी देखी सुनी जाती है। इसका क्या कारण ?। **'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः, स धर्म्मः'** कहते हुए महर्षियोंने धर्म्म-प्रवृत्ति को उभयलोक-सुखावाप्ति का कारण बतलाया है। होरहा है इसके ठीक विपरीत। इसी विप्रतिपत्तिका बड़ा सुन्दर समाधान करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

'एक बार भारतीय श्रद्धालुवर्गने अश्रद्धावश यज्ञकर्म्म का परित्याग कर दिया। उन्होंने देखा कि, जो यज्ञानुष्ठान करते हैं–वे दुःखी देखे जाते हैं, एवं जो यज्ञानुष्ठान नहीं करते–वे सुखी –समृद्ध देखे जाते हैं। ऐसी स्थिति में उन्होंने यह संकल्प कर डाला कि, आज से अपन किसी भी यज्ञकर्म्म का अनुगमन न करेंगे। दूसरे शब्दों में यों कह लीजिए कि, जिस प्रकार वर्त्तमान युग में 'धर्म्मात्मा दुःख पा रहे हैं, पापात्मा लोकवैभव से युक्त हो रहे हैं' इस भावना से जैसे मानव समाज की धर्म्ममार्ग पर अश्रद्धा बढ़ती जा रही है, ठीक इसी हेतु के आधार पर पुरायुग में भी मानवसमाज यज्ञादि कर्म्म-कलाप के प्रति अश्रद्धा करता हुआ इसे छोड़ बैठा। जब स्वर्गाधिपति इन्द्र के पास ये समाचार पहुंचे, तो उन्होंने मानवसमाज की अश्रद्धा दूर करने के लिए स्वगुरू बृहस्पति को भारतवर्ष भेजा। बृहस्पति के सामने जब मनुष्यों ने अपनी अश्रद्धा का **'य उ यजन्ते-ते पापीयांसो भवन्ति, य उ न यजन्ते-ते श्रेयांसो भवन्ति। किं काम्या यजमहि,'** यह कारण उपस्थित किया, तो बृहस्पति ने अनुमान लगा लिया कि, अवश्य ही इन्होंने यज्ञकर्म्म में किसी विरुद्ध कर्म्म का समावेश कर डाला है। फलतः बृहस्पति ने आदेश दिया कि, अब एक बार तुम हमारे सामने यज्ञ करो। मनुष्यों ने आदेशानुसार यज्ञवेदि का निर्म्माण किया, त्रेताग्नि-कुण्ड बनाए। इसी कर्म्म-परम्परा में बृहस्पतिने देखा कि यज्ञसञ्चालक ऋत्विजों ने वेदि पर कुशा बिछाने से पहिले ही वेदि का स्पर्श कर डाला है। बृहस्पति बोल पड़े कि, हे मनुष्यो ! इसी दोष से अभ्युदयसाधक यज्ञ ने तुम्हारा अनिष्ट किया है। कुशास्तरण से पूर्व वेदि का स्पर्श करने से वेदिनिर्म्माणार्थ खोदी गई भूमि का हिंस्रक प्राण तुम्हारे अध्यात्मयज्ञ में प्रविष्ट होगया। इसी से तुम्हारा यज्ञस्वरूप विकृत हो गया।

सावधान ! आगे से भूलकर भी बर्हिस्तरण से पूर्व वेदि का स्पर्श न करना। दर्भविद्युत् से जब वेदिगत् हिंसक विद्युत शान्त हो जाय, तभी तुम वेदिका स्पर्श कर सकते हो। आदेशानुसार मनुष्यों ने ऐसा ही किया। एवं इस वेदनवमर्शपूर्वक होने वाले यज्ञानुष्ठान से मनुष्य यज्ञ न करने वालों की अपेक्षा सुसमृद्ध बन गए' (देखिए-शत०१।२।५ ब्रा०) ॥

उक्त ब्राह्मणाख्यान से प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि, धर्म्मतत्त्व का किसी परोक्ष-अचिन्त्याप्रमेय-शक्ति से सम्बन्ध है। इस में न तो माननीय कल्पना का समावेश ही सम्भव है, एवं न साधारण भी भूल का ही यहां समादर है। जिस प्रकार थोड़ी सी असावधानी से विद्युतयन्त्र प्रकाश-प्रदान के स्थान में प्राणों का संग्राहक बन जाता है, एवमेव थोड़ा भी इतस्ततः करने से वही धार्म्मिक-कर्म्मकलाप अभ्युदय के स्थान में सर्वनाश का कारण बन जाता है। यदि एक स्वर-दोष से इन्द्रशत्रुवृत्र द्वारा इन्द्रवधार्थ होने वाले यज्ञ में इन्द्र के स्थान में स्वयं यज्ञकर्त्ता वृत्र मारा जा सकता है, तो अवश्यमेव धर्म्मानुष्ठानों के सम्बन्ध में होने वाली भूलें हमें अभ्युदय से वञ्चित रखने के साथ साथ हमारा महा अनिष्ट भी कर सकतीं हैं। वही वेदशास्त्र है, वे ही मन्त्र हैं, मन्त्रों में वे ही अव्यर्थ शक्तियां निहित हैं, वे ही पद्धतिग्रन्थ हैं। फिर क्या कारण है कि, आज हमारे अनुष्ठान सफल नहीं होते ?। आज यह कौन विश्वास करा सकता है कि, ब्राह्मणवर्ग कर्म्म-निर्वाह की कथा तो दूर, मन्त्रों का भी ठीक ठीक उच्चारण कर सकता है ? ऐसी दशा में अपने प्रज्ञापराध-जनित दोष से उत्पन्न नाशकारिणी दशा का उत्तरदायित्त्व धर्म्म पर डाल देना क्या न्यायपक्ष है ? सनातनधर्म्मावलम्बियों की इसी भूल ने इन्हें अन्य मतवादियों की तुलना में हीन-वीर्य्य बना रक्खा है। अन्यमतावलम्बी तात्कालिक लोकवैभव से बाह्य-दृष्ट्या तुष्टवत् प्रतीत हो रहे हैं। परन्तु हम धर्म्म का व्याज से आचरण करते हुए धर्म्म को धोका देकर उभयतः भ्रष्ट हो रहे हैं। इस पतन से त्राण पाने का एकमात्र उपाय है तत्तत्-कर्म्मकलापों की मौलिक उपपत्तियों का परिज्ञान प्राप्त करना। उपपत्तिज्ञान से ही हम कर्म्म के वास्तविक स्वरूप से परिचय प्राप्त कर-सकते हैं। तभी कर्म्म की अनुरूपता का अनुगमन सम्भव हो सकता है, एवं तभी कर्म्मानुष्ठान फलप्रद बन सकता है। **'श्रद्धालुवर्ग स्वशक्त्यनुसार शास्त्रीय कर्म्म-कलाप के उपपत्तिज्ञान द्वारा यथाविधि कर्म्मों का अनुष्ठान करे, एवं तद्द्वारा यथोक्त फलभाक् बने'** यही श्राद्धविज्ञाननिबन्ध की रचनाकारणत्रयी के अन्तिम (तृतीय) कारण का संक्षिप्त निदर्शन है।

सर्वान्त में प्रसङ्गात् एक स्वार्थमूलक कारण का दिगुदर्शन करा देना भी अप्रासङ्गिक न माना जायगा। आज से ८ वर्ष पहिले श्रद्धेय पितुःश्री (बालचन्द्रशास्त्री) का परलोक गमन हुआ। ज्येष्ठ भ्रातुःश्री के द्वारा और्ध्वदैहिक-कर्म्म की इतिकर्त्तव्यता सम्पन्न हुई। उस असहायावस्था में

यह संकल्प हुआ कि, दिवङ्गत प्रेतात्मा की तृप्ति के लिये तुम्हें भी किसी अर्थानपेक्ष अनुष्ठान का अनुगमन करना चाहिए। अन्ततो गत्वा-'पितरो वाक्यमिच्छन्ति' इस सिद्धान्त के आधार पर यही निश्चय किया गया कि, पितुःश्री के वार्षिक श्राद्धोपलक्ष में वाङ्मय निबन्ध ही श्रद्धापूर्वक समर्पित किया जाय। पितृप्रजापति की सहजसिद्ध अनुकम्पा से वह संकल्प पूरा हुआ, एवं यही श्राद्धविज्ञानरचना-संकल्प का एक मुख्य कारण बना।

श्राद्धविज्ञान-निबन्ध-रचनाकारण के सम्बन्ध में निवेदन किया गया। अब निबन्ध-प्रतिपाद्य विषयों का संक्षेप से दिग्दर्शन कराती हुई प्रस्तावना उपरत होती है। आर्षप्रणाली के

प्रतिपाद्यविषय दिग्दर्शन—

अनुसार सम्पूर्ण वेदशास्त्र (मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र) 'ज्ञातव्य, कर्त्तव्य,' भेद से दो भागों में विभक्त हुआ है। वेद के जिस भाग में ज्ञातव्य विषयों का प्रतिपादन हुआ है, वह 'ज्ञातव्य-वेद' है। 'स्तुति-विज्ञान-इतिहास' ये तीन ज्ञातव्य विषय हैं। 'ऋक्-यजुः-साम-अथर्व' नाम की ११३१ संहिताओं में इन्हीं तीन ज्ञातव्य विषयों का स्पष्टीकरण हुआ है, अतएव संहितात्मक वेदभाग को 'ज्ञातव्य वेद' कहा जा सकता है, जोकि 'ब्रह्म'-'मन्त्र' आदि नामों से भी व्यवहृत हुआ है। गृहस्थाश्रमानुगत 'कर्म्मयोग,' वानप्रस्थानुगत 'भक्तियोग,' एवं संन्यस्ताश्रमानुगत 'ज्ञानयोग,' ये तीन योग कर्त्तव्यात्मक हैं। 'विधि' नामक ब्राह्मणभाग में कर्म्मयोग का, 'आरण्यक' नामक ब्राह्मणभाग में भक्तियोग का, तथा 'उपनिषत्' नामक ब्राह्मणभाग में ज्ञानयोग का प्रतिपादन हुआ है। शतायुःपुरुष ब्रह्मचर्य्याश्रम में 'छन्दांसि नियतः पठेत्' इस मानवादेश के अनुसार ज्ञातव्यलक्षण ब्रह्मवेद का, तथा कर्त्तव्यलक्षण-विधि-आरण्यक-उपनिषदात्मक ब्राह्मणवेद का अध्ययन समाप्त कर क्रमशः आगे के तीनों आश्रमों में कर्म्म-भक्ति-ज्ञानरूप कर्त्तव्यों का अनुगमन करता हुआ अपना जन्म सफल बनाने में समर्थ हो जाता है। इस प्रकार ज्ञातव्य-कर्त्तव्यात्मक वेदशास्त्र के द्वारा सर्वस्व सिद्धि हो जाती है, जैसा कि-'सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति' इत्यादि मनुवचन से प्रमाणित है।

उक्त कथन से प्रकृत में यही बतलाना अभीष्ट है कि, वेदशास्त्रसिद्ध 'श्राद्ध' पदार्थ भी ज्ञातव्य-कर्त्तव्य-भेद से दो भागों में विभक्त किया जासकता है। श्राद्धपदार्थ की (कर्म्म की) इति-कर्त्तव्यता 'कर्त्तव्यात्मक श्राद्ध' है, जिसका स्मृति, निबन्धादि ग्रन्थों में विस्तार से प्रतिपादन हुआ है। दूसरे शब्दों में 'श्राद्ध कैसे करना चाहिए ?" इस प्रश्न का समाधान करने वाली **श्राद्धमयूख, श्राद्धविवेक, श्राद्धमञ्जरी,** आदि निबन्ध ग्रन्थों में प्रतिपादित श्राद्धकर्म्म की

पद्धति 'कर्त्तव्यात्मकश्राद्ध' है। श्राद्धकर्म्मान्तर्गत क्रत्वर्थ कर्म्मों का मौलिक रहस्य क्या है ? श्राद्धकर्म्म एवंरूपेणैव क्यों किया जाता है ? श्राद्ध से पितर कैसे तृप्त हो जाते हैं ? इत्यादि प्रश्नों से सम्बन्ध रखने वाला वेदशास्त्रसिद्ध उपपत्ति-विज्ञान ही 'ज्ञातव्यात्मक श्राद्ध' है। दूसरे शब्दों में श्राद्धकर्म्म का मौलिक विज्ञान ही 'ज्ञातव्यात्मकश्राद्ध' है। इन उभयविध श्राद्धपदार्थों में से कर्त्तव्यात्मक श्राद्धपदार्थ (श्राद्धपद्धति) के लिए स्वतन्त्र निवन्ध लिखना सर्वथा व्यर्थ है। क्योंकि पद्धति के सम्वन्ध में प्राचीन आचार्यों के द्वारा शतशः निवन्ध लिखे जा चुके हैं। दूसरा ज्ञातव्य-भाग वच रहता है। अवश्य ही श्राद्धकर्म्म की वैज्ञानिक उपपत्ति के सम्बन्ध में आज कोई ऐसा स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हो रहा, जिसमें श्राद्ध-विज्ञान का एकत्र स्पष्टीकरण किया गया हो। एकमात्र इसी लक्ष्य से प्रस्तुत निवन्ध को 'श्राद्ध-विज्ञान' का प्रधान लक्ष्य माना गया है। चूंकि इसमें ज्ञातव्यात्मक-श्राद्ध-विज्ञान का ही प्रतिपादन हुआ है, अतएव इसे **'श्राद्धविज्ञान'** इस नाम से व्यवहृत करना अन्वर्थ समझा गया है।

'श्राद्धविज्ञान' यह खण्डचतुष्टयात्मक सम्पूर्ण ग्रन्थ का नाम है। इस 'श्राद्धविज्ञान' नामक एक निवन्ध (ग्रन्थ) में विषयप्रतिपादन-सुविधा की, तथा प्रतिपाद्य विषयावगति की दृष्टि से **'चार खण्ड'** रक्खे गए हैं। प्रत्येक खण्ड में कई एक **'अवान्तरप्रकरण'** हैं। प्रत्येक अवान्तर प्रकरण में अनेक **'परिच्छेद'** हैं। एवं प्रत्येक परिच्छेद में अनेक **'वैज्ञानिक तत्त्वों'** का विश्लेषण हुआ है। इस प्रकार श्राद्धविज्ञान, तदन्तर्गत चार खण्ड, खण्डान्तर्गत अवान्तर प्रकरण, अवान्तर प्रकरणान्तर्गत परिच्छेद, परिच्छेदान्तर्गत वैज्ञानिकतत्त्वविश्लेषण, इस दृष्टि से विषयों का विभाजन हुआ है। प्रकृत में जिन विषयों का **'तत्रैते विषया निरूपिता द्रष्टव्याः'** रूप से दिग्दर्शन कराया जाने वाला है, वे अवान्तरप्रकरणान्तर्गत 'परिच्छेद' हैं। परिच्छेदान्तर्गत वैज्ञानिक विषयों की सूची प्रत्येक खण्ड के आरम्भ में **'विषयसूची'** नाम से समाविष्ट हुई है।

'श्राद्धविज्ञान' निवन्ध में जितने भी विज्ञानात्मक अवान्तर प्रकरणों का समावेश हुआ है, उन्हें **'उपनिषत्'** नाम से व्यवहृत किया गया है। आज दिन विद्वत्समाज में 'उपनिषत्' शब्द वेद के अन्तिम भागात्मक **'ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्डका'** दि ग्रन्थों में हीं निरूढ़ माना जा रहा है। परन्तु हमारी दृष्टि में 'उपनिषत्' शब्द सर्वथा यौगिक[१] है। मौलिक उपपत्ति-लक्षण विज्ञान-

---

१ इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन त्रिखण्डात्मिका-**उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका'** के प्रथमखण्डान्तर्गत **'उपनिषच्छब्दरहस्य'** नामक अवान्तर प्रकरण में देखना चाहिए।

सिद्धान्त के सम्यक् परिज्ञान से हमारा आत्मा प्रतिपाद्य विषय की ओर निश्चितरूप से प्रतिष्ठित हो जाता है। दूसरे शब्दों में मौलिक रहस्य-परिज्ञान से प्रतिपाद्य विषय की सत्यता पर श्रद्धा-विश्वास करते हुए उस की इतिकर्त्तव्यता (अनुष्ठान) में हम प्रवृत्त हो जाते हैं। इसी आधार पर- 'उप-(विषयसमीपे)-नि-(नितरां-निश्चयेन) सीदति-(प्रतिष्ठितो भवत्यात्मा ययोपपत्या, सा उपपत्तिस्तस्य विषयस्य, कर्म्मणो वा-उपनिषत्' इत्यादि निर्वचन के अनुसार विषयप्रवृत्तिहेतुभूता विज्ञानात्मिका मौलिक उपपत्ति को 'उपनिषत्' कहना अन्वर्थ बन जाता है। पाश्चात्य भाषा में जिस अर्थविशेष के लिए 'प्रिन्सिपल' (Principle) शब्द प्रयुक्त हुआ है, यावनीभाषा जिस अर्थ में 'उसूल' शब्द का प्रयोग कर रही है, ठीक उसी अर्थ में आर्षभाषा ने 'उपनिषत्' शब्द को जन्म दिया है। 'उपनिषत्' शब्द के इस यौगिकार्थ को स्वीकार करने से ही 'यदेव विद्यया करोति, श्रद्धयोपनिषदा, तदेव वीर्य्यवत्तरं भवति'–'अरण्यमियान्न पुनरेयात्'–'तस्योपनिषदहमिति'–सत्यस्योपनिषच्छ्रद्धा'—'तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्' इत्यादि आप्तवचनों में पठित 'उपनिषत्' शब्द का समन्वय किया जा सकता है। इसी यौगिकार्थ के आधार पर गीतास्मृति का 'भगवद्गीतोपनिषत्' नाम से व्यवहृत करना सुसङ्गत बनता है। यदि उपनिषच्छब्द केवल वेदान्त (वेद के अन्तभाग रूप ईशादि ग्रन्थों) में हीं निरूढ होता, तो गीता को उपनिषत् कहना सर्वथा असङ्गत बन जाता। प्रस्तुत श्राद्धविज्ञाननिबन्ध के सभी अवान्तरप्रकरण चूंकि उपपत्ति-ज्ञान का विश्लेषण करते हुए उपविषच्छब्द के यौगिकार्थ से समतुलित हैं। एकमात्र इसी आधार पर उन अवान्तर प्रकरणों को– 'आत्मविज्ञानोपनिषत्' – 'पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत्' – 'सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत्'–'आत्मगतिविज्ञानोपनिषत्' इत्यादि रूप से 'उपनिषत' नामों से व्यवहृत करना उचित मान लिया गया है।

सम्पूर्ण निबन्ध ४ खण्डों, तथा (लगभग २०+३० अठपेजी साइज के) १८०० (अठारह सौ) पृष्ठों में सम्पन्न हुआ है। चतुःखण्डात्मक इस श्राद्धविज्ञान में जिन अवान्तर वैज्ञानिक विषयों का स्पष्टीकरण हुआ है, उनका विशेष परिचय तत्तत् खण्डों के स्वाध्याय पर निर्भर है। एवं सामान्य परिचय तत्तत् खण्डों के आरम्भ में उद्धृत विषयसूची पर निर्भर है। प्रकृत प्रस्तावना में उनका दिग्दर्शनमात्र करा दिया जाता है। निबन्ध समाविष्ट चारों खण्ड क्रमशः निम्न लिखित नामों से व्यवहृत हुए हैं—

खण्डचतुष्टयात्मक-श्राद्धविज्ञान—

१—आत्मविज्ञानोपनिषत् (प्रथमखण्ड) ।
२—पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत् (द्वितीयखण्ड) ।
३—सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत् (तृतीयखण्ड) ।
४—आत्मगतिविज्ञानोपनिषत् (चतुर्थखण्ड) ।

१—आत्मविज्ञानोपनिषत् (प्रथमखण्ड)—

एतन्नामक प्रथमखण्ड में आत्मस्वरूप का वैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण हुआ है। 'अखण्ड-सखण्ड' से आत्मा के दो मुख्य विवर्त्त हैं। इन दोनों में अखण्डात्मा सर्वधर्म्मशून्य, सर्वव्यापक, अतएव वाङ्मनसपथातीत, अतएव च एकान्ततः शास्त्रानधिकृत है। दूसरा सखण्ड आत्मा सर्वधर्म्मोपपन्न है। यह सखण्ड आत्मविवर्त्त महामाया, योगमायादि मायिक निबन्धनों से आठ विवर्त्तभावों में परिणत हो रहा हैं। शरीरभिन्न-आत्मसत्तावाद ही श्राद्धकर्म्म की मूल-प्रतिष्ठा है। अतएव आरम्भ में आत्मा के स्वरूप का परिचय कराना ही आवश्यक समझा गया है। **'शरीर ही आत्मा है ?, अथवा आत्मतत्त्व शरीर से पृथक् है ?'—'यदि आत्मा व्यापक है, तो उसकी परलोकगति कैसे सम्भव है ?'—यदि आत्मा पूर्व शरीर के साथ ही अन्य शरीर धारण कर लेता है, तो पिण्डदानादि लक्षण श्राद्धकर्म्म किस के उद्देश्य से किया जाता है ?'–'पार्वणादि श्राद्ध किस आत्मा के लिए विहित है ?'—'गयाश्राद्ध किस आत्ममुक्ति का कारण बनता है ?'** इत्यादि यच्चयावत् आत्मस्वरूपविषयिणी जिज्ञासाओं का वैज्ञानिक समाधान करने वाले **'आत्मविज्ञानोपनिषत्'** नामक प्रथमखण्ड में निम्नलिखित अवान्तर प्रकरणों, तथा परिच्छेदों का समावेश हुआ है :—

१—आत्मविज्ञानोपनिषदि–(प्रथमखण्डात्मिकायाम्)—

१—अमृतात्मविज्ञानोपनिषत्- प्रथमा
२—अव्यक्तात्मविज्ञानोपनिषत्–द्वितीया

३—यज्ञात्मविज्ञानोपनिषत्— तृतीया
४—विज्ञानात्मविज्ञानोपनिषत्—चतुर्थी
५—महदात्मविज्ञानोपनिषत्— पञ्चमी
६—प्राणात्मविज्ञानोपनिषत्— षष्ठी (तत्र)

१—वैश्वानरात्मविज्ञानोपनिषत
२—तैजसात्मविज्ञानोपनिषत
३—प्राज्ञात्मविज्ञानोपनिषत } —प्रत्यगात्मोपनिषत् (१)
४—हंसात्मविज्ञानोपनिषत } —प्रेतात्मोपनिषत (२)
५—बाह्यात्मविज्ञानोपनिषत } —शरीरात्मोपनिषत् (३)

* * *

१—श्राद्धविज्ञानान्तर्गत—'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक प्रथमखण्ड—

आत्मविज्ञानोपनिषदि—(प्रथमखण्डात्मिकायाम्)—

१—'अमृतात्मविज्ञानोपनिषत्'—प्रथमा

(तत्रैते विपया निरुपिता द्रष्टव्याः)

समाप्ता चेयमात्मविज्ञानोपनिषदि—'अमृतात्मविज्ञानोपनिषत्' प्रथमा

आत्मविज्ञानोपनिषदि—

२—'अव्यक्तात्मविज्ञानोपनिषत्' द्वितीया

(तत्रैते विषया निरूपिता द्रष्टव्याः)

समाप्ता चेयमात्मविज्ञानोपनिषदि 'अव्यक्तात्मविज्ञानोपनिषत्' द्वितीया

* * *

आत्मविज्ञानोपनिषदि—

३—'यज्ञात्मविज्ञानोपनिषत्' तृतीया

(तत्रैते विषया निरूपिता द्रष्टव्याः)

समाप्ता चेयमात्मविज्ञानोपनिषदि-'यज्ञात्मविज्ञानोपनिषत्' तृतीया

* * *

ात्मविज्ञानोपनिषदि—

४—'विज्ञानात्मविज्ञानोपनिषत्' चतुर्थी

(तत्रैते विषया निरूपिता द्रष्टव्याः)

१—परमेष्ठी का अपेक्षाकृत अव्यक्तत्त्व
२—विश्वस्य हृदयम्
३—सोम, चित्, इन्द्र, विभूतियाँ
४—यज्ञप्रवर्त्तक विश्वात्मा
५—यज्ञ के विविध विवर्त्त
६—सूर्य्यात्मक क्षत्ररुद्र
७—सौर अन्नादाग्नि के तीन विवर्त्त
८—सूर्य्यमूलक दैवात्मा
९—सूर्य्यमूलक विज्ञानात्मा
१०—धिषणा, तथा प्राणविवर्त्त

प्रकरणोपसंहार

* * *

ात्माविज्ञानोपनिषदि—

५—'महानात्मविज्ञानोपनिषत्' पञ्चमी

(तत्रैते विषया निरूपिता द्रष्टव्याः)

१—महान् की महत्ता
२—महादेव, और 'महान्'
३—सोम-चिदात्मक 'पितर'
४—त्रिविध ज्ञानविवर्त्त
५—प्रजापतिविवर्त्तत्रयी
६—त्रिगुणात्मक 'पुरुषब्रह्म'
७—एकाक्षरलक्षण 'महद्ब्रह्म'
८—विश्वयोनिलक्षण 'महानात्मा'
९—सुषुप्त्यधिष्ठाता 'महानात्मा'
१०—आकृति-प्रकृति-अहंकृतिलक्षण 'महानात्मा'
११—सत्त्व-रज-स्तमोलक्षण 'महानात्मा'
१२—चान्द्र-'महानात्मा'
१३—चान्द्र-'प्रज्ञानात्मा'
प्रकरणोपसंहार

समाप्ता चेयमात्मविज्ञानोपनिषदि–'महानात्मविज्ञानोपनिषत्' पञ्चमी

* * *

आत्मविज्ञानोपनिषदि—

६—'प्राणात्मविज्ञानोपनिषत्' षष्ठी

(तत्रैता आत्मोपनिषदो व्याख्याता द्रष्टव्याः)

१—वैश्वानरात्मविज्ञानोपनिषत्
२—तैजसात्मविज्ञानोपनिषत्
३—प्राज्ञात्मविज्ञानोपनिषत्
} →प्रत्यगात्मोपनिषत् (१)

४—हंसात्मविज्ञानोपनिषत्]→प्रेतात्मोपनिषत् (२)

५—बाह्यात्मविज्ञानोपनिषत्]→शरीरात्मोपनिषत् (३)

(तस्यामेतस्यां षष्ठ्यां-पञ्चात्मोपनिषदात्मिकायां-'प्राणात्मविज्ञानोपनिषदि' निम्न-विषया निरूपिता द्रष्टव्याः)

१—अविज्ञान-क्षणिकविज्ञानमूला भ्रान्ति
२—विभिन्नपक्षसमर्थन
३—व्याख्यादोषमूला आत्मस्वरूपविप्रतिपत्ति
४—आत्मभेदस्वरूपपरिचय
५—आत्मपरिग्रहमूलक आत्मस्वरूपभेद
६—सीमाभावप्रवर्त्तक 'माया' परिग्रह
७—कलाप्रवर्त्तक 'कला' परिग्रह
८—सगुणभावप्रवर्त्तक 'गुण' परिग्रह
९—सविकारभावप्रवर्त्तक 'विकार' परिग्रह
१०—सावरणभावप्रवर्त्तक 'आवरण' परिग्रह
११—साञ्जनभावप्रवर्त्तक 'अञ्जन' परिग्रह
१२—विभूति, पाप्मा, परिचय
१३—विराट् प्रजापति
१४—महेश्वर की सर्वव्याप्ति
१५—सर्वधर्म्मोपपन्न पुरुषात्मा
१६—प्रजापतिचतुष्टयी
१७—जीवात्मस्वरूपोपक्रम
१८—चिदात्मा, चिदंश, चिदाभास,
१९—योग-बन्ध-विभूति
२०—विदित, अविदित, उभयातीत, आत्मविवर्त्त
२१—पृथिवी, अन्तरिक्षं, द्यौः
२२—शब्दब्रह्म विवर्त्त
२३—विश्वा भुवनानि
२४—रुद्रत्रैलोक्य
२५—दक्षिणामूर्त्तिशिवतत्त्व
२६—वायुवेष्टित भूपिण्ड
२७—अन्नादप्रकृति, और भूपिण्ड
२८—पार्थिव 'एमूषवराह'
२९—शूद्र, और शूकरपशु
३०—अमृत-मृत्युलक्षणा पार्थिवसंस्था
३१—देवासुरप्रतिस्पर्द्धा
३२—विस्रस्त पार्थिव प्रजापति
३३—षट्शुक्रात्मक पार्थिवविवर्त्त
३४—पार्थिवाग्नि के विविध विवर्त्त
३५—पार्थिवाग्नि का अन्नादत्त्व
३६—कृष्णाजिन, और पुष्करपर्ण

समाप्ता चेयमात्मविज्ञानोपनिषदि-पञ्चात्मविज्ञानोपनिषदात्मिका—'प्राणात्मविज्ञानोपनिषत्' षष्ठी

समाप्तश्चायमात्मविज्ञानोपनिषदात्मकः श्राद्धविज्ञानान्तर्गतः—

प्रथमः खण्डः

* * *

२—पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत् (द्वितीखण्ड)—

एतन्नामक द्वितीय-खण्ड में वैज्ञानिक-दृष्टि से 'पितृ' तत्त्व का विश्लेषण हुआ है। 'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक प्रथमखण्ड में जिन आठ आत्मस्वरूपों का विवेचन हुआ है, उनमें से 'महानात्मविज्ञानोपनिषत्' नामक अवान्तर प्रकरण में प्रतिपादित 'महानात्मा' ही पिण्डदानादिलक्षण पार्वणादिश्राद्धकर्म्म की प्रतिष्ठा है। सौम्यशुक्राधारेण प्रतिष्ठित महानात्मा में चतुरशीतिकल पितृप्राण प्रतिष्ठित रहते हैं। इसी पितृप्राणसमष्टि की तृप्ति के लिए श्राद्धकर्म्म विहित है। 'अध्यात्म-अधिभूत-अधिदैवत-भेद से त्रिसंस्थ बने हुए पितृप्राण का मौलिक स्वरूप क्या है ?'—'नान्दीमुख-पार्वण-अश्रुमुख-नामक पितरों का क्या स्वरूप है ?'—'अग्निषत्-सोमसत्-बर्हिषत्-नामक अन्नात्मक पितर, आज्यपा-सोमपा-हविर्भुक्-नामक अन्नादात्मक पितर, सुकाली-नामक अनुभय पितर अपना कैसा स्वरूप रखते हुए कहां प्रतिष्ठित रहते हैं ?, क्या करते हैं ?'—'वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा-शरत्-हेमन्त-शिशिर-भेदभिन्न ऋतुपितरों का क्या स्वरूप है ?' क्यों इन्हें 'ऋतुपितर' कहा गया ?'—'पितृप्राण की मूलप्रतिष्ठारूप, अतएव-'पितृणां पितरः' नाम से प्रसिद्ध पितृदेवताओं का क्या स्वरूप है' इत्यादि प्रश्नों के वैज्ञानिक समाधान के अतिरिक्त आरम्भ में ही प्रस्तुत प्रकरण (२ खण्ड) में उन श्रौत-स्मार्त्त-प्रमाणों का भी संग्रह हुआ है, जो विस्पष्ट भाषा में 'मृतपितृ-श्राद्धकर्म्म' का समर्थन कर रहे हैं। श्राद्धविज्ञानान्तर्गत 'पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत्' नामक इस द्वितीयखण्ड में निम्नलिखित पांच अवान्तर प्रकरणों, तथा परिच्छेदों का समावेश हुआ है—

२—*पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषदि*—(*द्वितीयखण्डात्मिकायाम्*)—

१—प्रमाणोपनिषत्

२—पितृदेवतास्वरूपविज्ञानोपनिषत्

३—दिव्यपितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत्

४—ऋतुपितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत्

५—प्रेतपितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत्

* * *

२—श्राद्धविज्ञानान्तर्गत—'पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत्' नामक द्वितीयखण्ड—

पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषदि—(द्वितीयखण्डात्मिकायाम्)—

१—'प्रमाणोपनिषत्'—प्रथमा

(तत्रैते विषया निरूपिता द्रष्टव्याः)

१—आर्षप्रजा की शास्त्रनिष्ठा
२—'प्रमाण' शब्द मीमांसा
३—शाब्दी-दृष्टि, युक्ति,
४—स्वतः, परतः, प्रामाण्यवाद
५—प्रत्यक्षप्रमाण के दो विवर्त्त
६—शब्दप्रामाण्यवाद
७—प्रमाणचतुष्टयी
८—वृद्धव्यवहार की प्रामाणिकता
९—श्राद्धकर्म्मानुगत प्रामाण्यवाद
१०—वेदसंहितोक्त प्रामाण्यवाद
११—ब्राह्मणभागोक्त प्रामाण्यवाद
१२—शास्त्रीयप्रश्नमीमांसा

प्रकरणोपसंहार

समाप्ता चेयं पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषदि—'प्रमाणोपनिषत्' प्रथमा

* * *

पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषदि—

२—'पितृदेवतास्वरूपविज्ञानोपनिषत्'—द्वितीया

(तत्रैते विषया निरूपिता द्रष्टव्याः)

१—अमृतात्मब्रह्म का सिंहावलोकन
२—सृष्टिविवर्त्त समतुलन
३—लेखात्मिका पुरविभूति
४—त्रयीब्रह्म का वैभव
५—ब्रह्म की 'स्वात्' विभूति
६—पितृप्राणप्रतिष्ठात्मकतत्त्व
७—पितृलक्षण पवित्रसोम
८—भृगुद्वारा विजातीयप्राणाप्रवृत्ति
९—अङ्गिरा के ३३ विवर्त्त
१०—दाम्पत्यभावमूलक विराट्पुरुष
११—अमृत, सत्य, यज्ञ-त्रयीमीमांसा
१२—संस्कार्य्य विश्वविवर्त्त
१३—ऋषि-पितृ-देव-प्राणत्रयी
१४—ब्राह्म जगत्
१५—प्राकृतिकपितृप्राणमीमांसा
१६—पर, मध्यम, अवर-पितृत्रयी
१७—त्रिविधपितृप्राण की मूलप्रकृति
१८—ब्रह्म की ऋत-सत्य-सृष्टि

समाप्ता चेयं पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषदि–'पितृदेवतास्वरूपविज्ञानोपनिषत्' द्वितीया

* * *

पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषदि—

३—'दिव्यपितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत्' तृतीया

(तत्रैते विषया निरूपिता द्रष्टव्याः)

समाप्ता चेयं पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषदि—"दि० पि० विज्ञानोपनिषत्" तृतीया

* * *

पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषदि—

४—'ऋतुपितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत्' चतुर्थी

(तत्रैते विषया निरूपिता द्रष्टव्याः)

समाप्ता चेयं पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषदि 'ऋतुपितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत्' चतुर्थी

* * *

पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषदि—

५—'प्रेतपितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत्'-पञ्चमी

(तत्रैते विषया निरूपिता द्रष्टव्याः)

समाप्ता चेयं पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषदि–'प्रेतपितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत्' पञ्चमी

समाप्तश्चायं पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषदात्मकः श्राद्धविज्ञानन्तर्गतो

द्वितीयः खण्डः

* * *

३—सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत् (तृतीयखण्ड)—

एतन्नामक तृतीयखण्ड में महानात्मा से सम्बन्ध रखने वाले, बीजीपुरुष से आरम्भ कर उसकी सप्तम सन्तति पर्य्यन्त वितत होने वाले साप्तपौरुष-सापिण्ड्यभाव का ही वैज्ञानिक विश्लेषण हुआ है। 'सप्त पुरुष पर्य्यन्त वितत प्रजातन्तु का क्या स्वरूप है?'—'पुत्रोत्पादन, पार्वणादिश्राद्ध, गयाश्राद्धादि से श्राद्धकर्त्ता पितृऋण से कैसे विमुक्त हो जाता है ?'—'पितृऋण का वैज्ञानिक स्वरूप क्या है ?'—'गोत्रसापिण्ड्य, विवाहसापिण्ड्य,

दायादसापिण्ड्य, आदि सापिण्ड्यभावों की मूलप्रतिष्ठा क्या है ?'--प्रजातन्तुप्रवर्त्तक पितृप्राणात्मक सहःपिण्डों का क्या स्वरूप है ?'—'सप्तम पुरुष के अनन्तर सपिण्डता क्यों निवृत्त हो जाती है ?'—'गोत्र का वैज्ञानिक स्वरूप क्या है ?'--'समानगोत्रों में विवाह सम्बन्ध क्यों निषिद्ध माना गया है ?'—'पिण्डभाजः-लेपभाजः-प्रेतपितरों का क्या स्वरूप है ?'—'प्रेतपितृनिमित्त प्रदत्त पिण्ड, एवं गोदानादि, विदूरस्थ प्रेत-पितरों के समीप कैसे पहुंच जाते हैं ?'—'अघाशौच-सूतकाशौच-शावाशौच-आदि आशौचों का वैज्ञानिक स्वरूप क्या है ?'—सम्पूर्ण वंशजो में आशौच सम्बन्ध कैसे संक्रान्त हो जाता है ?'— इत्यादि प्रश्नों के वैज्ञानिक समाधान का विश्लेषण करने वाले प्रस्तुत तृतीय खण्ड में निम्न लिखित अवान्तर प्रकरणों, तथा परिच्छेदों का समावेश हुआ है—

३—*सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषदि*—(*तृतीयखण्डात्मिकायाम्*)—

१—प्रजातन्तुवितानविज्ञानोपनिषत्

२—ऋणमोचनोपायविज्ञानोपनिषत्

३—आशौचविज्ञानोपनिषत्

* * *

३—*श्राद्धविज्ञानान्तगत*—'*सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत्*' *नामक तृतीयखण्ड*—

सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषदि-(तृतीयखण्डात्मिकायाम्)

१—'प्रजान्तन्तुवितानविज्ञानोपनिषत्' प्रथमा

(तत्रैते विषया निरूपिता द्रष्टव्याः)

१—विषयोपक्रम

२—महानात्मानुगत पितृतत्त्व

३—प्रजातन्तुप्रतिष्ठालक्षण महानात्मा

४—भूतसम्परिष्वक्त महानात्मा

५—महानात्मा का आविर्भावक

६—औपपातिक कर्म्मात्मा

७—'रेतो' मय कर्म्मात्मा

८—'इरा' रसमय कर्म्मात्मा

९—प्रपदप्रतिष्ठ कर्म्मात्मा

१०—'करारविन्देन पदारविन्दम्'

समाप्ता चेयं सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषदि–'प्रजातन्तुविज्ञानोपनिषत्' प्रथमा

*　　*　　*

सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषदि—

२—'ऋणमोचनोपायविज्ञानोपनिषत्'—द्वितीया

(तत्रैते विषया निरूपिता द्रष्टव्याः)

१९—अमावास्यानुगत श्राद्धकर्म्म
२०—सन्ततिनिरोधकपितृदोष (१६)
२१—श्रौताख्यान द्वारा श्राद्धविज्ञान का स्पष्टीकरण
२२—प्राणविद्यामूलक श्राद्धकर्म्म
२३—श्राद्धकर्म्मानुगत श्रौतपरिभाषाविज्ञान
२४—श्राद्धोपकरणों की सोमात्मकता
२५—प्रेतात्मतृप्तिप्रवर्त्तक श्राद्धकर्म्म
२६—श्राद्धकर्म्मभेदमीमांसा
२७—श्राद्धानुगत कालतत्त्वमीमांसा
२८—श्राद्धानुगत ब्राह्मणभोजनमीमांसा
२९—गयाश्राद्धानुगत आनृण्यविज्ञान (४)
३०—खण्डात्माओं का यथास्थान विलयन
३१—गयाप्राणात्मक आगन्तुक महानात्मा
३२—गयाप्राणात्मक आत्मा की क्रान्ति
३३—मुग्धप्रेतपितरों की भोग्यसामग्री
३४—पितृसम्पत्, और पितृतुष्टि
३५—गयाक्षेत्र का वैज्ञानिक स्वरूप
३६—गयाश्राद्धद्वारा प्रेततृप्ति

प्रकरणोपसंहार

समाप्ता चेयं–सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषदि–'ऋणमोचनोपायविज्ञानोपनिषत्' द्वितीया

* * *

सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषदि—

३—'आशौचविज्ञानोपनिषत्'–तृतीया

(तत्रैते विषया निरूपिता द्रष्टव्याः)

किमपि प्रास्ताविकम्

१—आशौचपात्रस्वरूपमीमांसा
२—आशौचस्वरूपमीमांसा
३—अघाशौचस्वरूपमीमांसा
४—आशौचत्रयीमीमांसा
५—स्पर्शास्पर्शमीमांसा
६—कर्त्तव्याकर्त्तव्यमीमांसा
७—आशौचनिमित्तमीमांसा (आशौचोपपत्तिः)
८—सम्बन्धसूत्रमीमांसा

क—योनिकृत सम्बन्ध सूत्र
(१) विवाहसापिण्ड्य
(२) दायसापिण्ड्य
(३) आशौचसापिण्ड्य
(४) पिण्डस्वरूपसिंहावलोकन

ख—विद्याकृतसम्बन्धसूत्र
ग—यज्ञकृतसम्बन्धसूत्र
घ—संसर्गकृतसम्बन्धसूत्र

प्रकरणोपसंहार

समाप्ता चेयं सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषदि–'आशौचविज्ञानोपनिषत्' तृतीया

समाप्तश्चायं सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषदात्मकः श्राद्धविज्ञानान्तर्गतः—

तृतीयः खण्डः

* * *

४—आत्मगतिविज्ञानोपनिषत् (चतुर्थखण्ड)—

एतन्नामक चतुर्थ-खण्ड में कर्म्मात्मा से सम्बन्ध रखने वाली गति का ही वैज्ञानिक विश्लेषण हुआ है। "नित्य-क्रम-गतियों का क्या स्वरूप है ?"—"आत्मलोक कौन कौन से हैं ?"—"किन कर्म्मों से आत्मा किन लोंकों में जाकर क्या क्या फल भोगता है ?"—"पन्था, कर्म्म, नाड़ी, आकाश, छन्द, आतिवाहिक, आदि आत्मगतिनिमित्तों का क्या स्वरूप है ?"—"ब्रह्मपथ, देवपथ, पितृपथ, यमपथ-आदि मार्ग कहां कहां व्यवस्थित हैं ?"—"परामुक्ति, अपरामुक्ति, समवलय, क्षीणोदर्क, भूमोदर्क, कैवल्य, सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य, आदि उत्तम गतिभावों का क्या स्वरूप है ?"—"कृष्णमार्ग, शुक्लमार्ग, परोजामार्ग, अगतिमार्ग, आदि मार्ग अपना क्या स्वरूप रखते हैं ?"—ब्रह्मगति-प्रवर्त्तक ब्रह्माश्वत्थ, तथा कर्म्मगतिप्रवर्त्तक "कर्म्माश्वत्थ, का वैज्ञानिक स्वरूप क्या है ?"–इत्यादि प्रश्नों का वैज्ञानिक विवेचन करने वाले प्रस्तुत चतुर्थ (अन्तिम) खण्ड में निम्न लिखित एक प्रकरण, तथा ८ परिच्छेदों का समावेश हुआ है :—

४–श्राद्धविज्ञानान्तर्गत–'आत्मगतिविज्ञानोपनिषत्' नामक चतुर्थखराड —

१—'आत्मगतिविज्ञानोपनिषत् प्रथमैव

(तत्रैते विषया निरूपिता द्रष्टव्याः)

सन्दर्भसङ्गति

१—गतिस्वरूपपरिचय

२—आत्मगतिविषयिणी प्रश्नपरम्परा

३—आत्मगतिमूलक आत्मस्वरूपपरिचय

४—प्रश्नपरम्परा का समाधान

५—गत्यारूढ प्रत्यागात्मा

६—आत्मोत्क्रान्ति के निमित्त

७—आत्मोत्क्रान्ति के परिचायक

८—आत्मगति के निमित्त

क—पन्थानः
ख—कर्म्माणि
ग—नाड्यः
घ—छन्दांसि
ङ—देवताः
च—आतिवाहिकाः
* अतिवाहिकपरिशिष्टः
छ—आकाशः
ज—लोकाः (आत्मगतिस्थानानि)

(१) नित्यगतिस्थानम् (३) आगतिगतिस्थानम्

(२) क्रमगतिस्थानम् प्रकरणोपसंहार

समाप्ता चेयं चतुर्थखण्डात्मिका-'आत्मगतिविज्ञानोपनिषत्' प्रथमा

समाप्तश्चायमात्मगतिविज्ञानोपनिषदात्मकः श्राद्धविज्ञानन्तर्गतः—

चतुर्थः खण्डः

* * *

इति—खण्डचतुष्टयात्मकस्य 'श्राद्धविज्ञाननिबन्धस्य' प्रतिपाद्यविषयाणां

संक्षिप्त-विषयसूची समाप्ता

* * *

प्रतिपादनशैली, तथा भाषादृष्टि—

प्रतिपाद्य विषयदिग्दर्शनानन्तर प्रतिपादन शैली, तथा भाषादृष्टि के सम्बन्ध में भी दो शब्द कह देना आवश्यक प्रतीत होता है। एवं उस समय तो यह आवश्यकता और भी अधिक अपेक्षित हो जाती है, जब कि कई एक सम्माननीय महानुभावों के इस सम्बन्ध में अनेक प्रकार के सुझाव हमारे सम्मुख उपस्थित होते रहते हैं। 'हमारे प्रत्येक ग्रन्थ में एक ही विषय की अनेक बार पुनरावृत्ति रहती है। प्रतिपाद्य विषयों के अतिरिक्त समालोचनात्मक अनावश्यक विषयों का समावेश रहता है, जो उभयपक्ष में प्रतिस्पर्द्धा उत्पन्न कराते हैं। भाषा ठेठ 'पण्डिताऊ' होती है, संस्कृत-शब्द प्रचुरमात्रा से समाविष्ट रहते हैं। ग्रन्थ का आकार आवश्यकता से अधिक बृहत होता है' ये ही वे कतिपय सुझाव हैं, जिन के लिए हम उन नीर-क्षीरविवेकी महानुभावों के प्रति हृदय से कृतज्ञ हैं।

मान्य बन्धुओं द्वारा उद्‌घाटित दोषों को स्वीकार करते हुए इस सम्बन्ध में हमारी ओर से यही निवेदन करना शेष रह जाता है कि, शताब्दियों से ही नहीं, अपितु सहस्राब्दियों से विलुप्त प्राय जिस 'आर्षविज्ञान' को हमने अपने जीवन का लक्ष्य बनाया है, उसके सम्बन्ध में प्रत्येक

दशा में हमारा यह आवश्यक कर्त्तव्य हो जाता है कि, आर्षमर्य्यादा की रक्षा के नाते प्रतिपादनशैली, तथा भाषादृष्टि, दोनों की मूलप्रतिष्ठा आर्षशैली ही बनाई जाय। इन्द्रियातीत-विषयप्रधान आर्षविज्ञान के स्पष्टीकरण के सम्बन्ध में आर्ष महर्षियों ने एक ही विषय के पुनः पुनरावर्त्तन को सर्वथा उपादेय माना है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित ब्राह्मण भाग ही पर्य्याप्त होगा। पाठक देखेगें, आरम्भ में 'अन्तर्य्यामी' के सम्बन्ध में श्रुति ने जो विषय उद्धृत किया है, विषय समाप्ति पर्य्यन्त वही विषय बार बार उद्धृत हुआ है—

१–'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरः, यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरं, यः पृथिवीमन्तरो यमयति, स तऽआत्मान्तर्याम्यमृतः'। २—'यो ऽप्सु तिष्ठन् अद्भ्योऽन्तरः, यमापो न विदुः, यस्यापः शरीरं, योऽपोऽन्तरो यमयति, स त ऽआत्मान्तर्याम्यमृतः:'। ३–'यो ऽग्नौ तिष्ठन्०'। ४—य आकाशे तिष्ठन्०'। ५–'यो वायौ तिष्ठन्०'। ६–'य आदित्ये तिष्ठन्०'। ७—'यश्चन्द्रतारके तिष्ठन्०' ८—'यो दिक्षु तिष्ठन्०'। ९—'यो विद्युति तिष्ठन्०'। १०—य स्तनयित्नौ तिष्ठन्०'। ११–'यः सर्वेषु लोकेषु तिष्ठन्०'। १२–'यः सर्वेषु वेदेषु तिष्ठन्०'। १३—यः सर्वेषु यज्ञेषु तिष्ठन्०'। १४—यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्०'। १५—'यः प्राणे तिष्ठन्०'। १६—'यो वाचि तिष्ठन्०'। १७—'यश्चक्षुषि तिष्ठन्०'। १८—'यः श्रोत्रे तिष्ठन्०'। १९—'यो मनसि तिष्ठन्०'। २०—यस्त्वचि तिष्ठन्०'। २१–'यस्तेजसि तिष्ठन्०'। २२–'यस्तमसि तिष्ठन्०'। २३—'यो रेतसि तिष्ठन्०'। २४—'य आत्मनि तिष्ठन्०'।

—शत० ब्रा० १४।६।७।

यद्यपि इसका यह तात्पर्य्य नहीं कि, सर्वलोकोपकारक भाषा-ग्रन्थों में भी ठीक वैदिक-शैली का अनुकरण करते हुए प्रत्येक विषय का पुनः पुनः आवर्त्तन किया जाय। तथापि प्रधान, तथा स्वतन्त्रविषय निरूपण करते समय अवश्यमेव कुछ एक सामान्य परिभाषाओं का प्रतिपादन, तथा सिंहावलोकन करना आवश्यक हो जाता है। ऐसा न करने पर ग्रन्थ सर्वथा लक्ष्यहीन बना रह जाता है। हम तो समझते हैं, दृष्टिकोण भेद से प्रतिपादित ये परिभाषा-प्रकरण सर्वसाधारण के लिए विशेष हितकर ही होते हैं। हां, जिन महानुभावों

का लक्ष्य एकमात्र मनोरञ्जन ही है, साथ ही अन्यान्य अर्थसाधक लौकिक कार्य्यों में अहोरात्र व्यस्त रहने के कारण जिन्हें बुद्धिगम्य, अतएव 'यत्तदग्रे विषमिव' न्याय से कटुवत् प्रतीयमान आर्षसाहित्य-स्वाध्याय के लिए समय ही न मिलता हो, उनके लिए अवश्यमेव हमारा प्रयास व्यर्थ बन सकता है, जिस व्यर्थता को हम अपने लिए 'इष्टापत्ति' मानते हैं। जो इस विषय के जिज्ञासु हैं, परमात्मानुग्रह से जिन्हें ऐसे साहित्य-स्वाध्याय की सुविधा प्राप्त है, साथ ही जन्मान्तरीय, किंवा ऐहिक संस्कारानुग्रह से जो आर्षशैली से परिचित हैं, उनके लिए पुनरुक्ति-मूला यह आर्षशैली कदापि उद्वेग का कारण नहीं बन सकती।

दूसरे समालोचनात्मक सुझाव के सम्बन्ध में इसलिए विशेष वक्तव्य अनावश्यक है कि, सत्यासत्यविवेक की दृष्टि से शिष्टभाषानुगत समालोचना-प्रसङ्ग ग्रन्थ का आवश्यक अङ्ग माना गया है। 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः' न्याय से यत्र तत्र संक्षेप से निरूपित समालोचना-प्रसङ्ग परम्परया मूल-विषय का समर्थन ही कर रहे हैं। यदि श्राद्ध-तत्त्व प्रतिपादनप्रसङ्ग में हम श्राद्ध की अवैदिकतासिद्ध करने वाले भावों का दिग्दर्शन करा देते हैं, तो इसमें कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। अपना मन्तव्य,—भले ही वह शास्त्र विरुद्ध ही क्यों न हो—स्वभावतः प्रेयः पदार्थ है। उसका उद्घाटन करना अवश्य ही तत्पक्षानुयायी के लिए थोड़ी देर के लिए उद्वेगकर बन जाता है। परन्तु यही उद्वेग कालान्तर में उसे सत्यनिष्ठ भी बना देता है।

तीसरे भाषानुगत सुझाव के सम्बन्ध में हम क्या कहें, जब कि भाषाज्ञान से हम सर्वथा वञ्चित हैं। और सम्भवतः अपने आवश्यक वेदस्वाध्यायकर्म्म में विघ्न उपस्थित कर भाषा-पाठशाला में प्रविष्ट होना भी हम अपने लिए असम्भव मानते हैं। वर्त्तमान युग में 'हिन्दी' मातृभाषा है, तत्पुत्रत्वेन उसके क्रोड़ का आश्रय ग्रहण करना स्वाभाविक है। पुत्र जिस वृत्ति से भी माता का आश्रय ग्रहण करे, माता स्वयं उसे संभाल लेती है। जहां तक हमारा विश्वास है, आपद्दृष्टिकोण से जिस हिन्दी को भारतवर्ष की (न कि हिन्दुस्तान की) मातृ-भाषा कहना उचित है, उसका आश्रय हमें प्राप्त हुआ है। हमने प्रयास किया है कि, कलिवात्याहित झञ्झावातों से मातृभाषा के स्वरूप को यथासम्भव सुरक्षित रक्खा जाय। यदि समुद्रपार की विदेशी भाषाएं हमारे अन्तस्तल में स्थान पा सकती हैं, तो कोई कारण नहीं आर्षप्रजा थोड़े से प्रयास से अपनी चिरसंस्कारानुगता सुसंस्कृता मातृभाषा के अवबोध में सफलता प्राप्त न कर सके। 'आम्राश्च सिक्ताः, पितरश्च प्रीणिताः' न्याय से हमारे ये निबन्ध प्रतिपाद्य विषयों के साथ साथ—आर्षशैली, आर्षभाषा, आदि के भी परिचायक बनें,

यही प्रधान-लक्ष्य है। एवं इस लक्ष्य के प्रति जितने भी सामयिक सुझाव हैं, वे सब आगन्तुकधर्म्मलक्षण-परधर्म्मस्थानीय बनते हुए न केवल भयावह ही हैं, अपितु स्वधर्म्म (आर्षधर्म्म) के स्वरूपविघातक भी हैं। फलतः –'**स्वधर्म्मे-निधनं श्रेयः, परधर्म्मो भयावहः**' न्याय से उक्त सुझाव हमारे लिए दूर से ही प्रणम्य हैं।

सर्वान्त में प्रास्ताविक-वक्तव्य समाप्त करते हुए केवल यह कहना शेष रह जाता है कि, प्रस्तुत '**श्राद्धविज्ञान**' ग्रन्थ आज से लगभग ७ वर्ष पहिले ही सम्पन्न हो गया था। परन्तु कई एक सामयिक विप्रतिपत्तियों के कारण इसे प्रकाशित न किया जा सका।

प्रस्तावनोपसंहार— पितृदेवता के श्रद्धासूत्रानुगत अन्वर्थ अनुग्रह से चिरकालानन्तर यह वाङ्मय-पिण्डपितृयज्ञ सम्पन्न होने जा रहा है। प्रस्तुत प्रस्तावना के साथ '**आत्मविज्ञानोपनिषत्**' प्रथमखण्ड ही सर्वप्रथम प्रकाशित हो रहा है। आर्षप्रजा का आवश्यक सहयोग ही आगे के तीन खण्डों के प्रकाशन का प्रधान निमित्त है, और प्रतीक्षामय दृढ़ विश्वास है कि, आर्षप्रजा अवश्य ही इस प्रधान निमित्त का शीघ्र से शीघ्र स्वरूप सम्पादन करेगी।

हम अपने इस प्रयास में कहां तक सफल हुए हैं ? इसका निर्णय भार तो विचारशील पाठकों पर ही निर्भर है। हां, अपनी ओर से इस सम्बन्ध में यह बलपूर्वक कहा जा सकता है कि, अत्यावश्यक श्राद्धकर्म्म के सम्बन्ध में आज जो कुतर्कवाद प्रक्रान्त हैं, वेद को निमित्त बना कर धार्म्मिक जगत् की श्रद्धा पर जो आघात किया जा रहा है, श्रद्धालु जनता इस परप्रत्यय के मोह जाल में बद्ध होकर जिस पिण्डदानादि-लक्षण श्राद्धकर्म्म से विमुख होती जा रही हैं, ये सब विप्रतिपत्तियाँ बहुत अंशों में इस निबन्ध से हट जायँगी। किसी पर आक्षेप न करते हुए वैदिकविज्ञानदृष्टि से, प्रधानतः श्रौतप्रमाणों का आश्रय लेते हुए, साथ ही तर्क, तथा युक्तिवाद को भी लक्ष्य बनाते हुए 'श्राद्धविज्ञान' सम्पन्न हुआ है। यद्यपि अनृतसंहित मनुष्य से भ्रान्ति हो जाना उसका स्वाभाविक धर्म्म है। परन्तु सद्भावना, अथवा कुभावना, उभयथा प्रदर्शित उस भ्रान्ति के संशोधन के लिए अन्तरात्मा सदा सन्नद्ध है !

विज्ञान-मन्दिर
भूरटीवा, जयपुर
प्रथम ज्येष्ठ कृ० अमावास्या
वि० सं० १९९९

विधेयः—
मोतीलालशर्म्मा
भारद्वाजः (गौड़ः)